

यह लेख शैक्षिक नीति को व्यापक सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखता है। यह लेख नीतिगत बदलावों को विचाराधारात्मक रूप से खोलकर बताता है, जिसमें भारत की प्रारंभिक शिक्षा में बराबरी व गुणवत्ता की पहली पर खास तौर पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

भारतीय शिक्षा में गैर-बराबरी और गुणवत्ता

कुछ महत्त्वपूर्ण नीतिगत सरोकार

मौजूदा वक्त में भारतीय शिक्षा तंत्र चिंताजनक हालातों की जकड़न में है। इसका असर दसियों लाख बच्चों के वर्तमान और भविष्य पर पड़ रहा है। सार्थक तरीकों से शिक्षित करने की बात को एक बाजू में रख भी दें तो भी बच्चों की विशाल संख्या के लिए बुनियादी सीखने और नामांकन को सुनिश्चित कर पाने में लगातार नाकामी, खास तौर पर मातहत समूहों, जिनमें भाषायी एवं सांस्कृतिक अल्पसंख्यक शामिल हैं, सामाजिक सुविधा और शैक्षिक सुविधा से वंचितों के बीच की कड़ी को तोड़ने में नाकामी की ओर इशारा करते हैं। भले ही वैश्विक पूंजीवादी राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्था के तले, भौतिक चीजों की समृद्धि और तकनीकी उपलब्धियों ने चकराने वाली ऊंचाइयां हासिल कर ली हों, लैंगिक व जाति-वर्ग की गैर-बराबरियां ज्यादा ध्रुवीकृत हो गई हैं और दमन और दबदबे के पैटर्न ने अपनी स्थिति और मजबूत बना ली है। देश की जनता के बड़े व महत्त्वपूर्ण हिस्से के लिए अर्थव्यवस्था के दोबारा पुनर्गठन और सांस्कृतिक उभार, सामाजिक संघर्षों और राजनैतिक व जातीय हिंसा के समग्र संदर्भों में बेदखली और विस्थापन, अलगाव व गरीबी, अपमान व असुरक्षा का दौर है। हम ऐसे हालातों के बीच जी रहे हैं जो नृत्वशास्त्री अँरतुरो एस्कोबार को यह एलान करने पर मजबूर करता है कि हिंसा किसी खास स्थान की वजह से यानी स्थानिक नहीं बल्कि विकास का ही एक घटक है (एस्कोबार, 2004)। स्कूल और बच्चे इस तकदीर से बच नहीं सकते। समाज में पैठ जमाए बैठी हिंसा रिस-रिस कर स्कूलों व बच्चों की जिंदगी पर धावा बोल देती है। स्कूलों में होड़ ज्यादा हमलावर हो रही है और स्कूलों के प्रबंधन ज्यादा दबंग हो रहे हैं। शिक्षक बुरे बर्ताव का शिकार भी हैं और खुद भी इसका इस्तेमाल करते हैं। बच्चे मारपीट के शिकार हो सकते हैं, खुदकुशी करने या हिंसा भरे व्यवहारों की ओर बढ़ सकते हैं। समाज में महामारी की तरह फैले जाति, लिंग और सांप्रदायिक हिंसा के भयावह तौर-तरीकों की झलक, यौन उत्पीड़न से सदमाग्रस्त लड़कियों में, जातिगत अत्याचार से दलित बच्चों और घृणा के शिक्षणशास्त्र से अल्पसंख्यकों में नजर आती

है। बच्चों के लिए सुरक्षित एवं आरामदेह जगह होने से बहुत परे, स्कूल हकीकत में शारीरिक तौर पर बर्बर, मानसिक और भावनात्मक हिंसा के अखाड़े हैं जो सीखने-सिखाने की गंभीर समस्याओं को और भी बढ़ा देते हैं।

जैसा कि मोटे तौर पर माना जा चुका है कि वैश्विक पूंजीवाद की आर्थिक कार्य सूचियों और नवउदारवादी विचारधाराओं के जरिए दुनिया भर में बेदरदी के साथ लगातार शिक्षा को गढ़ा जा रहा है।

भारत भी विकासशील देशों के उस समूह का हिस्सा है जो एक ताकतवर वैश्विक शैक्षिक पहलकदमी “सभी के लिए शिक्षा” के अंतर्गत एक साथ लामबंद हो रहे हैं। अहम नीतिगत बदलाव, जिनकी जड़ें शैक्षिक बदलाव के नवउदारवादी सिद्धांतों के बढ़ते वैश्विक दबदबे में हैं, राष्ट्रीय नजरिए व लक्ष्यों को अपनी जगह से खिसका रहे हैं। सामाजिक गैर-बराबरी के दोबारा उत्पादन में शिक्षा की पारंपरिक भूमिका की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से उलट, गैर-बराबरी के अडियल हालात और बढ़ती हिंसा की वजह से यह जरूरी हो जाता है कि भारतीय शिक्षा पर असर डालने वाले बदलते संदर्भों और नीतियों को बहुविध तरीकों से समझा जाए। पारंपरिक तौर पर, नीतिगत शोध एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें तयशुदा लक्ष्यों और मकसदों के संदर्भ में नीतिगत असर को मापा जाता है और नीति को अमली जामा पहनाने के तरीकों को आलोचनात्मक ढंग से जांचा-परखा जाता है। भारतीय शिक्षा तंत्र के मुख्य निर्माता, वित्तदाता, सेवा मुहैया करवाने वाले और नियंत्रक के तौर पर राज्य की मुख्य भूमिका के बावजूद नीतिगत विश्लेषण मुश्किल से ही भारतीय राज्य पर बहस और सिद्धांतों में शामिल होता है या नीति निर्माण और प्रक्रियाओं में अपनी पूरी ताकत झोंकता है। नीतिगत विमर्श और प्रक्रियाएं पैदाइशी तौर पर राजनैतिक घटना है और इसलिए नीति के उत्पादन को खास ऐतिहासिक संदर्भों में सामाजिक ढांचागत ताकत के संबंधों की गतिशीलता के अंदर जगह दी जानी चाहिए (ऑल्सेन व अन्य, 2004)।

शैक्षिक नीति को व्यापक सामाजिक ऐतिहासिक और राजनैतिक संदर्भों के बीच स्थापित करने की कोशिश करते हुए इस पर्व का मकसद प्रारंभिक शिक्षा की बराबरी- गुणवत्ता की पहली पर खास ध्यान देते हुए शैक्षिक नीति को विचारधारात्मक रूप से खोलना

यानी उनका विखंडन करना है। बराबरी और पहुंच वैश्विक व राष्ट्रीय स्तर पर बहुत पुराने नीतिगत मुद्दे हैं। शैक्षिक गैर-बराबरी की समस्या, भारत के लिए ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और राजनैतिक महत्त्व की एक केन्द्रीय समस्या है। शिक्षा में बराबरी की नीति के मुताबिक चलने से समाज के ऐसे हिस्सों से जुड़े बच्चों की जिंदगी में अवसरों की परवाह को ताक पर रख दिया जाता है जो लिंग, जाति, वर्ग, आदिवासी, धर्म आदि की आपस में गुंथी ताकतों के

बराबरी और पहुंच वैश्विक व राष्ट्रीय स्तर पर बहुत पुराने नीतिगत मुद्दे हैं। शैक्षिक गैर-बराबरी की समस्या, भारत के लिए ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और राजनैतिक महत्त्व की एक केन्द्रीय समस्या है। शिक्षा में बराबरी की नीति के मुताबिक चलने से समाज के ऐसे हिस्सों से जुड़े बच्चों की जिंदगी में अवसरों की परवाह को ताक पर रख दिया जाता है जो लिंग, जाति, वर्ग, आदिवासी, धर्म आदि की आपस में गुंथी ताकतों के द्वारा ढांचागत तौर पर मातहत बनाए गए हैं।

द्वारा ढांचागत तौर पर मातहत बनाए गए हैं। पहुंच के साथ-साथ शिक्षा में गुणवत्ता का मुद्दा अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर बेमिसाल तरीके से ध्यान खींच रहा है और अब यह समकालीन शैक्षिक विमर्श में दबदबे वाला विषय बन चुका है। “सभी के लिए शिक्षा” के वैश्विक लक्ष्य को सुनिश्चित करने में गुणवत्ता ने केन्द्रीय जगह हासिल कर ली है। भारतीय शैक्षिक बहस में यह मुद्दा नया नहीं है और गुणवत्ता के ‘गिरते’ स्तरों के सरोकारों से हमारे शैक्षिक इतिहास में कई मौकों पर बहुत बहसों और चर्चाएं चली हैं (नाइक, 1975)। हालांकि मौजूदा विमर्श एक निर्णायक बदलाव की निशानदेही करता है। लगातार शिक्षा तंत्रों की अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तुलना की जाने लगी है (कॉरनाय व हॉटन, 2002)। गुणवत्ता पर चलने वाला वैश्विक विमर्श राष्ट्रीय नीतिगत बदलावों को गढ़ने लगा है। भारत भी गुणवत्ता के इस नए चढ़ते सूरज को नमस्कार कर रहा है और हस्तक्षेप के मुख्य एजेण्डे के तौर पर गुणवत्ता के मामले को उठा रहा है। प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनिकरण के बुनियादी संवैधानिक लक्ष्य को हासिल करने की राह में अहम रुकावट के तौर पर शिक्षा की

‘घटिया गुणवत्ता’ को आगे बढ़ाया जा रहा है। बाहरी वित्तीय मदद से चलने वाले गुणवत्ता सुधार कार्यक्रमों के जरिए गुणवत्ता की वैश्विक स्तर पर बनाई गई धारणाओं को बढ़ावा दिया जा रहा है। हालांकि इसी बीच शिक्षा में मात्रात्मक व गुणात्मक गैर-बराबरी की स्थानीय समस्याएं और गहरी होती नजर आ रही हैं। उनकी जड़ें इतिहास में गहराई से धंसी हुई हैं लेकिन वे इस वक्त (तोड़े-मरोड़े गए) नीतिगत चुनावों और उन्हें लागू करने के तरीकों के समकालीन आड़े-तिरछे रास्तों या प्रक्षेपण पथों के जरिए निर्णायक तौर पर गढ़ी जा रही हैं। इसका असर व्यापक तौर पर नजर आ रहा है लेकिन उसके स्वभाव को अभी ठीक तरीके से समझा नहीं गया है।

इस पर्व में नीतिगत बदलावों के अंदर मौजूद विचारधाराओं को साफ करके पहचानने और ढांचागत तौर पर मातहत बने समूहों के नजरिए से गुणवत्ता और बराबरी के लिए राष्ट्रीय प्रतिबद्धता के लिए उसके निहितार्थों की जांच-परख करने की एक कोशिश की गई है। इनमें गरीबों में भी सबसे गरीब, खास तौर पर (सजातीय) अल्पसंख्यकों, आदिवासियों, दलितों, गैर-अधिसूचित या घुमंतू आदिवासी समूहों, अन्य पिछड़ा वर्ग, मुस्लिम एवं लड़कियों को शामिल किया गया है, ये सभी समूह लैंगिक व जातिवादी दमन, सांस्कृतिक मातहतीकरण, वर्ग शोषण और विकास की वजह से होने वाले विस्थापन की लगातार जारी रहने वाली प्रक्रियाओं से बुरी तरह से प्रभावित हुए हैं। नीतिगत बदलावों के सामाजिक तात्पर्य की जांच-परख करने के लिए गुणवत्ता का मुद्दा एक उपयोगी मामला है और यह नवउदारवादी विमर्श के जरिए गढ़े या बनाए जा रहे समता विरोधी दबदबे को दर्शाता है। यह पर्चा आलोचनापरक ढंग से, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय नीतिगत लिखित सामग्री या नुस्खों में गुणवत्ता व बराबरी की धारणाओं एवं उसे लागू करने के तरीकों में बदलावों को खोलता यानी डिकोड करता है और इसके साथ ही समतावादी विमर्श व इरादों में बुनियादी बदलावों को उजागर करने के नजरिए के साथ उनके विचारधारात्मक संदर्भों, ताकत के संतुलन और राज्य की गतिशीलता को रेखांकित करता है। यह नीति-निर्माण व उसकी प्रक्रियाओं में राज्य की भूमिका और राज्य व समाज की पेचीदगियों की खोजबीन करता है और दलील देता है कि न तो शैक्षिक मौकों की बराबरी के सरोकारों और न ही सामाजिक न्याय को शैक्षिक शब्दावली में जगह मिल रही है। बराबरी नहीं, विस्तारवाद राज्य की नीति का अहम मुद्दा है और शिक्षा में विषमतावाद की पैठ उससे कहीं ज्यादा गहरी है, जितनी को हम पहचानने का दावा करते हैं। आज के वक्त में, नवउदारवाद एक नया विस्तारवाद फैला रहा है जिसमें समता व सामाजिक न्याय का स्वांग रचने वाली, समता व गुणवत्ता की नई वैश्विक कार्यनीतियों से प्रेरित होकर राज्य के वित्तीय प्रावधानों में कटौतियां की जा रही हैं। इसके बाद, यह पर्चा गुणवत्ता के नए सरोकारों और गुणवत्ता में समृद्धि की नीतियों को शैक्षिक गैर-बराबरी के समाजशास्त्रीय पैटर्नों के विश्लेषणों के संदर्भ में रखता है, जो इस दलील के लिए विचारधारात्मक व आनुभविक आधार मुहैया करवाता है कि गरीबों व मातहत समूहों के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की कोई भी सार्थक और लगातार कायम रहने वाली धारणा मौजूदा संदर्भों में हासिल कर पाना नामुमकिन है। इसलिए गुणवत्ता, विमर्श की राष्ट्रीय व वैश्विक राजनीति का हिस्सा है जो शिक्षा को विचारधारात्मक दबदबे और सामाजिक नियंत्रण के औजार के तौर पर इस्तेमाल करता है।

पर्व में चर्चा को चार हिस्सों में संयोजित किया गया है। पहले दो हिस्से, शैक्षिक नीति को बड़े पैमाने पर राज्य के विचारधारात्मक विमर्श के संदर्भ में रखकर देखते हैं और एक व्यापक ऐतिहासिक सिंहावलोकन करते हैं, जिसमें इस बात की जांच-परख की गई है कि नीतिगत दस्तावेजों में गुणवत्ता व बराबरी की धारणाओं की अभिव्यक्ति किस तरह बदलती रही है। दो राष्ट्रीय शैक्षिक नीतियों के इर्द-गिर्द हुई चर्चाओं और उनकी लिखित सामग्री के आधार पर पहले हिस्से में 1968 की नीति और उसके बाद का विश्लेषण किया गया है। दूसरे हिस्से में 1986 की नई शिक्षा नीति के साथ वैश्वीकरण के संदर्भ में नीतिगत बदलावों की जांच-परख की गई है। उसमें ढांचागत समायोजन कार्यक्रम के तहत किए गए नीतिगत बदलावों से जुड़े कुछ अहम दस्तावेजों पर निर्भर रहा गया है। इस पर्व का तीसरा हिस्सा शैक्षिक गैर-बराबरी के समकालीन हालातों का मोटा-मोटा खाका बनाता है जिसमें दोबारा शिक्षा के पुनर्गठन और सामाजिक बहुपरतीकरण के आपसी मेल-जोल से पड़ने वाले असर के कुछ चमचमाते विषमतावादी नतीजों को रेखांकित करता है। आखिरी हिस्से में, गैर-बराबरी के उभरते पैटर्न, गुणवत्ता की राजनीति और बदलते विमर्श के संदर्भ में शैक्षिक गुणवत्ता की विचारधारा और उसे लागू करने के तरीकों पर आलोचनापरक ढंग से दोबारा विचार किया गया है।

इस पर्व को गलत तरीके से गुणवत्ता विरोधी बाजू में खड़े हो जाने के तौर पर नहीं लिया जाना चाहिए। हमारे द्वारा किए जाने वाले करीब-करीब किसी भी सार्थक काम में गुणवत्ता की अहमियत होती है और खास तौर पर सार्वजनिक महत्त्व के कामों में। हालांकि, यहां पर इस शब्द के एक सीमित, संदर्भ के साथ और खास तौर पर परिभाषित करके इसके इस्तेमाल किए जाने की पैरवी की जा रही है।

1. पहली शिक्षा नीति (1968) में गुणवत्ता और बराबरी संदर्भ और मूल्यों का ढांचा

भारतीय संविधान के कानूनी ढांचे की जड़ें उदारवादी विचारधारा में हैं। मुख्यतः सीढ़ीनुमा पदानुक्रम, बंटवारे और आपसी घृणा के सिद्धांतों के तहत जीने वाले गैर-बराबरी वाले व विभाजित समाज में आजादी के बाद वाले लोकतांत्रिक भारत का यह काम था कि वह न्याय, उदारता, बराबरी व भाईचारे के मूल्यों को कानूनी, नीतिगत व कर्म के स्तर पर लागू करे। बराबरी के सिद्धांत के प्रति राज्य की प्रतिबद्धता संविधान की प्रस्तावना में “प्रतिष्ठा और अवसरों की बराबरी” के रूप में मंदिर में स्थापित मूर्ति की तरह एकदम साफ और प्रकट थी। एक मूल्य के रूप में बराबरी इस बात को पक्का करती थी कि सभी पैदाइशी तौर पर बराबर हैं और इस विचार को नागरिकता की धारणा के गर्भ में रखा गया था।

संविधान खास तौर पर छुआछूत को जड़ से उखाड़ता था- सामाजिक गैर-बराबरी का सबसे सुरक्षित व पारंपरिक स्वरूप जो न सिर्फ इंसानों को कायमी तौर पर हीन या तुच्छ बना देता था बल्कि उनके प्रतिष्ठा को प्रदूषित कर देता था और कर रहा है।

बराबरी की कोशिश करना एक पेचीदा मामला था। सबसे पहले भारतीय कोशिश इस बात के लिए मजबूर कर देती है कि दो अलग-अलग दिशाओं में जाने वाले बराबरी के सिद्धांतों का संश्लेषण किया जाए जिसमें बराबरी को योग्यतावादी और क्षतिपूर्ति वाले तरीके से समझाया जाता है (बिंते, 1983)। पहले की अभिव्यक्ति कानूनी बराबरी में होती है जिसमें जाति, धर्म, लिंग व यौनिकता आदि की बुनियाद पर आरोपित प्रतिष्ठा को दरकिनार कर, बराबरी और भेदभाव रहित बर्ताव की गारंटी दी गई है। इसी के साथ बहुत करीब से जुड़े मौकों की बराबरी के सिद्धांत में भी यह मौजूद है, जिसमें व्यक्तिगत आजादी, कर्म और गतिशीलता का विशेषाधिकार मिलता है और जिसमें सभी के लिए बराबर मौकों पर जोर दिया गया है और व्यक्तिगत कोशिश और प्रतिभा को सुरक्षित रखने के लिए सामाजिक स्थिति से मिलने वाली उपलब्धि का विरोध किया गया है। इससे एकदम उल्टा नजर आने वाला एक दूसरा क्षतिपूर्ति वाला सिद्धांत है, जो उन्हीं आरोपित कसौटियों की बुनियाद पर खास बर्ताव किए जाने का समर्थन करता है। गैर-बराबरी और अन्याय की गहराई तक पहुंची हुई जड़ों के बारे में जागरूकता के आधार पर यह उन समूहों/समुदायों के लिए राज्य की कार्यवाही को स्वीकार करता है जिनके सामाजिक 'पिछड़ेपन' की वजहें, दमन के इतिहास और उन पर लादी गई अक्षमताओं और अपमानों में होती हैं। क्षतिपूर्ति का सिद्धांत न्याय, निष्पक्षता, बहाली और हरजाने की धारणा द्वारा रेखांकित किया जाता है, जो प्रणालीगत व बढ़ती जाती वंचना को बराबर करके भरपाई कर देगा (गलांतर, 1984)। भारत की लोकतांत्रिक व समतावादी परियोजना के मुख्य शिल्पियों, नेहरू और अंबेडकर दोनों ने ही इसकी बराबरी के बर्ताव के पहले सिद्धांत के उल्लंघन के तौर पर पहचान की थी, लेकिन क्षतिपूर्ति के सिद्धांत को एक जरूरी अल्पकालिक व्यवस्था के तौर पर देखा था ताकि वे इसके असर से पार पा सकें और समाज के बाकी हिस्से के साथ बराबरी की हैसियत से भागीदारी निभा सकें। इस उदार व व्यापक नजरिए ने व्यक्तिगत अधिकारों और समूह के अधिकारों के बीच नजर आने वाले विरोधाभास को लुप्त किया जो इस संश्लेषण में पैदाइशी तौर पर मौजूद था।

“समता व सामाजिक न्याय के साथ वृद्धि” के नेहरूवादी नजरिए ने नए देश की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए पूंजी के जमाव, आर्थिक वृद्धि, आधुनिकीकरण और राज्य द्वारा नियंत्रित समाजवादी रूपान्तरण का एक विकासवादी

प्रारूप तैयार किया। बराबरी और सामाजिक न्याय का उदारवादी दर्शन पांच साला योजनाओं में अभिव्यक्त हुआ (कविराज, 2000)। हालांकि नियोजित विकास में प्रारंभिक शिक्षा के पहलू की खास परवाह नहीं की गई। खास तौर पर 14 साल की उम्र तक के सभी बच्चों को शिक्षा देने और कमजोर तबकों के शैक्षिक हितों को “खास परवाह” के साथ बढ़ावा देने के दायित्व के मामले में, भारतीय संविधान राज्य को मिलने वाले कुछ अहम शैक्षिक दिशा निर्देशों का स्रोत था। आजादी के बाद करीब बीस सालों तक भी, आजादी की लड़ाई के दौरान फले-फूले शैक्षिक पुनर्गठन के प्रतिस्पर्धी राष्ट्रवादी नजरियों का कोई हल नहीं निकल पाया या वे राज्य की शैक्षिक नीति में किसी तरह से अभिव्यक्ति नहीं हासिल कर पाए। बराबर मौकों और सामाजिक न्याय के स्रोत के तौर पर योजनाओं में शिक्षा की लफ्फाजी की गई। संवैधानिक दर्शन के मुताबिक शिक्षा के विकास को दिशा-निर्देश देने वाली कोई भी परिप्रेक्ष्य योजना नहीं बनाई गई (नाइक, 1965)। निवेश के संदर्भ में देखा जाए तो पहली योजना में शैक्षिक बजट का पर्याप्त हिस्सा प्रारंभिक शिक्षा को मिला लेकिन वह भी आगामी योजनाओं में संवैधानिक वादों को पूरा करने के लिहाज से काफी कम था। पूंजीवादी औद्योगिकीकरण और तकनीकी तौर पर आधुनिकीकरण का राजनैतिक रूप से दबदबे वाले तर्क ने एकदम खुले तौर पर आर्थिक व शैक्षिक विकास को काबू में कर लिया जो दूसरी योजना से छठवीं योजना तक उच्चतर व तकनीकी शिक्षा को प्राथमिकता दिए जाने में साफ तौर पर नजर आता है। साफ तौर पर औद्योगिक अर्थव्यवस्था के सपने में गौण मानी जाने वाली प्रारंभिक शिक्षा एक विषय के तौर पर उपेक्षित रही और जंग के बाद बनी शैक्षिक विकास की योजनाओं के क्षेत्रीय संस्करणों में तय किए गए नीतिगत परिप्रेक्ष्यों के मुताबिक कम या ज्यादा उनके साथ घिसटती रही (कामत, 1985)।

साठ के दशक के आधा गुजर जाने के बाद शिक्षा आयोग के गठन के साथ ही शिक्षा और उसके साथ ही प्रारंभिक शिक्षा ने आखिरकार व्यापक तौर पर बहुत जरूरी ध्यान अपनी ओर खींचा। शिक्षा आयोग को राष्ट्रीय विकास में शिक्षा की भूमिका के बारे में भारतीय राज्य के नजरिए को साफ तौर पर व्यक्त करने की जिम्मेदारी सौंपी गई और उसे शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली के लिए खाका और परिप्रेक्ष्य मुहैया करवाने के लिए कहा गया। ऐसी विचारधारात्मक बहस के संदर्भ में, जिसमें आधुनिकीकरण व सामाजिक बदलाव को विशेषाधिकार हासिल थे, शिक्षा आयोग की औपचारिक अभिव्यक्ति में शैक्षिक अवसरों की बराबरी के उदारवादी योग्यता आधारित सिद्धांत की शब्दावली में, ‘न्यायसंगत योग्यतातंत्र’ का पालन-पोषण करने के लक्ष्य से, बराबरी व गुणवत्ता के मुद्दों का जिक्र किया गया।

शिक्षा को “सभी तरह की उपलब्ध प्रतिभाओं को विकसित करने और ...जनसंख्या के सभी हिस्सों को अवसरों की बराबरी प्रगतिशील तरीके से सुनिश्चित करने” की जिम्मेदारी सौंपी गई (भारत सरकार, 1966)। समतावादी व लोकतांत्रिक ढंग से शिक्षा तक पहुंच को बढ़ावा देने के लिए जनसमुदाय के लिए प्राथमिक स्कूलीकरण के फैलाव को जरूरी समझा गया। शैक्षिक अवसरों की बराबरी के नजरिए को हासिल करने के लिए दो दांतेनुमा कार्यनीति बनाई गई : पहली, प्राथमिक व उच्च प्राथमिक स्कूलों का बड़े पैमाने पर विस्तार और दूसरी, सामान्य स्कूल प्रणाली की स्थापना। दूसरी वाली कार्यनीति एक विलक्षण नीतिगत पहलकदमी थी, जो कि सामान्य प्रणाली के दायरे में सभी मौजूदा स्कूलों को लाना चाहती थी, जिसमें सरकारी अनुदान पाने वाले और निजी स्कूल दोनों ही शामिल थे। इसका मकसद एक समान गुणवत्ता वाली सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली को विकसित करना था जिससे कि “काबिलियत के राष्ट्रीय खजाने” को पूरी तरह से बाहर निकाला जा सके, जो अब तक बहुसंख्यकों को दायम दर्जे की शिक्षा देने वाले गैर-बराबरी वाले तंत्र की वजह से अनखोजा पड़ा था। इसके साथ ही शिक्षा आयोग ने संवैधानिक तौर पर नामित समूहों, जिन्हें खास तवज्जो की जरूरत थी, की शैक्षिक जरूरतों को पूरा करने की जरूरत पर जोर दिया।

एक मुख्य नीतिगत सरोकार के तौर पर गुणवत्ता, बराबरी के सरोकार के साथ घुली-मिली हुई थी और वांछित सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में सामाजिक न्याय घुला-मिला हुआ था। सामान्य स्कूल प्रणाली में एकदम साफ तौर पर गुणवत्ता में बराबरी की पद्धति शामिल थी। स्कूलों के बीच ढांचागत सुविधाओं (जरूरी नहीं कि एक ही किस्म की बल्कि अलग-अलग पर्यावरण के लिहाज से उपयुक्त), शिक्षकों, पाठ्यचर्या, विषयवस्तु व शिक्षणशास्त्र को लेकर तुलनीय गुणवत्ता सुनिश्चित की जानी थी। गुणवानों के लिए अवसरों के सृजन और प्रतिभा को खास तौर से विकसित करने पर बहुत जोर देना भी ‘गुणवत्ता व उत्कृष्टता’ के लिए सरोकारों में एकदम साफ था। शिक्षा आयोग ने आगे भी शिक्षा के “मानदंडों” नामक सुर्खी तले इस मुद्दे के लिए कहा कि इसे अनुकूलनशीलता, गतिशीलता और अंतर्राष्ट्रीय तुलनीयता के संदर्भों में आंका जाना चाहिए (भारत सरकार, 1966, पृ. 38)।

विषमतावादी उन्मुखीकरण, विषमतावादी असर

नजरिए का नीति में रूपान्तरण व्याकुल कर देने वाली प्रक्रिया थी। रपट पर कार्यालयी तौर पर होने वाले विमर्श बहुत ही टकरावपूर्ण होते थे और उनमें उथल-पुथल भरे सामाजिक-राजनैतिक माहौल की राजनैतिक गतिशीलता की झलक मिलती थी (नाइक, 1982)। नेहरूवाद के बाद का वक्त समतावादी विचारधारा को लगाने वाले

गंभीर झटके का गवाह रहा और उसकी निशानदेही समाजवादी लक्ष्यों से तेजी के साथ कदम पीछे खींच लेने में की जा सकती है। राज्य तंत्र के ढांचों और नीतियों की प्रकृति के एक-दूसरे पर निर्भर संबंधों ने दोबारा वितरण करने वाले विचारों को लफ्फाजी में बदल दिया (फ्रैंकेल, 2005; कविराज, 1997)। एक अनिवार्य तौर पर पूंजीवादी राज्य ने आंशिक तौर पर दोहरा रुख अपनाया और वंचितों के पक्ष में कल्याणकारी नीतियां बनाईं। उच्च जातीय-वर्गीय राजनैतिक, नौकरशाही और बुद्धिजीवी कुलीनों, जिसमें शासक कांग्रेस के दक्षिणपंथी तत्त्व भी शामिल थे, के हाथों में शैक्षिक नीति जिस तरह से उभरकर आई वह हकीकत में बराबरी के खिलाफ खड़ी थी। पहली राष्ट्रीय शिक्षा नीति आखिरकार 1968 में बनी। उसने नीति के केन्द्रीय लक्ष्य के तौर पर अवसरों की बराबरी को निर्धारित किया। हालांकि नीतिगत बयान अविश्वसनीय रूप से शिक्षा आयोग के समतावादी नजरिए की बहुत ही कमजोर झलक देता था। इस बात की किसी और ने नहीं बल्कि शिक्षा आयोग के सदस्य सचिव ने उसे “अहानिकर, अनिश्चित व अप्रतिबद्ध” के साथ ही समतावाद को हासिल करने की ओर बढ़ने के लिए साफ-सुथरे निर्देशों के बगैर, बताते हुए आलोचना की (नाइक, 1982)।

शैक्षिक अवसरों की बराबरी के कार्यान्वयन के लिए मुख्य साधन के तौर पर सामान्य/पड़ोसी स्कूल प्रणाली के विचार को शासन करने वाले राजनैतिक कुलीनों ने अच्छे-खासे दुश्मनी भरे माहौल में नाकाम कर दिया। सामान्य स्कूल प्रणाली ने बाहरी तौर पर राजनैतिक प्रोत्साहन लेकिन अंदरूनी तौर पर कड़े प्रतिरोध को जागृत कर दिया। यह जाति व ओहदे के प्रति सचेतन समाज में राजनैतिक तौर पर बेमतलब का और सामाजिक तौर पर घिनौना था। यहां तक कि जिन राज्यों में समाजवादी या साम्यवादी सरकारें थीं, उनमें भी इस विचार को स्थापित करने की कोई पहल-कदमी साफ तौर पर नजर नहीं आई। सामान्य स्कूलों की सिर्फ गांवों में मौजूदगी, किसी सोची-समझी योजना के बजाय, पहले से ही थी, जिसमें आसपास बसने वाली जनसंख्या में से सभी तरह के सामाजिक समूहों के बच्चे आते थे। हालांकि वे स्कूल सामान्य भी सिर्फ सतही तौर पर ही थे क्योंकि उनमें आसपास के सभी सामाजिक समूहों के बच्चे भौतिक तौर पर ही एक साथ होते थे, उनके बीच किसी आदर्श या विचार के आधार दार्शनिक, सामाजिक और शैक्षिक सिद्धांतों के मुताबिक कोई समग्रता नहीं थी (भारत सरकार, 1966)।

क्षतिपूर्ति के सिद्धांत की प्रारंभिक शिक्षा में न्यूनतम मौजूदगी थी। सामाजिक नीति के तौर पर भरपाई मूलक भेदभाव में उपायों व योजनाओं की सारणी शामिल थी जो आर्थिक बेहतरी, सामाजिक उत्थान और राजनैतिक सशक्तिकरण ला सकती थी (इनमें जमीनों

व मकानों का आवंटन, स्कूलों को वित्तीय प्रावधान, आपूर्ति व दूसरी सेवाएं शामिल थीं)। सभी दोबारा वितरण किए जाने वाले भरपाई मूलक उपायों को लागू करने को लेकर कड़े प्रतिरोध ने यह सुनिश्चित कर दिया कि योजनाओं के पहले से ही बेहद कम बजट का भी एक हिस्सा ही हकीकत में खर्च हो और नामित वंचित समूहों में से सिर्फ एक हिस्से को ही हकीकत में फायदा मिले (गलांतर, 1984)। स्कूली शिक्षा के संदर्भ में, मोटे तौर पर भरपाई, सामग्री की मदद के तौर पर प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा के बाद दलित, आदिवासी, अन्य पिछड़ा वर्ग और आर्थिक रूप से पिछड़े बच्चों के लिए की गई। इसी बीच सामान्य स्कूल के सपने ने औपनिवेशिक काल में वंचितों के लिए स्थापित किए गए खास स्कूलों को बंद करवा दिया। लड़कियों की शिक्षा के मामले में, पितृवादी राज्य ने दो प्रमुख महिला शिक्षा आयोगों की लैंगिक-बराबरी की नीतिगत सिफारिशों को थोड़ा घुमा-फिरा कर बदल डाला, जिन्होंने लैंगिक क्षेत्रों के मामले में सांस्कृतिक तौर पर रूढ़िवादी मान्यताओं को चुनौती दी थी। अलग बनाम सह-शिक्षा वाले संस्थानों के मुद्दे पर दुविधापूर्ण मनोवृत्ति के नतीजों में राज्यों के स्कूलीकरण के अंदर लड़कियों के स्कूलों का कुछ शुरुआती विस्तार हुआ। आखिरकार, ऐसा लगता है कि लागत के कारक के दबाव तले ऐसे संस्थागत नियम गढ़े गए जिन्होंने लड़कियों की पहुंच संबंधी समस्या को नजरअंदाज किया और नतीजतन लड़कियों के स्कूलों के लिए वित्तीय प्रावधान काफी कम कर दिए गए। नीति के तौर पर, कुल मिलाकर दलितों, आदिवासियों और लड़कियों की शिक्षा करीब-करीब कोई मुद्दा ही नहीं थी, जिसमें उनकी शिक्षा लिए किसी भी तरह की खास वित्तीय, पाठ्यचर्या संबंधी या शिक्षणशास्त्रीय प्रतिबद्धताएं नहीं दर्शाई गई थीं।

राज्यतंत्र और कुलीन समाज को सिर्फ एक ही समतावादी धारणा स्वीकार्य नजर आती थी और वह प्रारंभिक शिक्षा की मुफ्त सरकारी प्रणाली का विकास और उसका विस्तार करना था। इसीलिए आजादी के बाद के काल के सबसे लंबे दौर में शैक्षिक अवसरों की बराबरी की महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रतिबद्धता को सिर्फ धीमी गति से विस्तारवाद से कुछ ज्यादा तरजीह नहीं दी गई, जिसमें बगैर शिक्षा की सुविधा वाले विशाल ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों व आबादियों को अपने दायरे में लिया जाना था। हालांकि यह बहुत जानी पहचानी बात है कि, राज्य के संसाधनों का वितरण पूरी तरह से

विषमतावादी और पक्षपातपूर्ण था। केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रारंभिक शिक्षा में सीमित व घटता हुआ आवंटन, वित्त के मामले में गैर-बराबरी के संघीय संबंध जिसके नतीजों में राज्यों को संसाधनों के अपर्याप्त हस्तांतरण ने वित्तीय प्रावधान करने व विस्तार करने पर बहुत गंभीर असर डाला। शैक्षिक वित्तीय प्रावधानों में गैर-बराबरी का सबसे महत्वपूर्ण असर यह पड़ा कि प्राथमिक शिक्षा असल में मुफ्त हो पाने में नाकाम रही (तिलक, 1990, 1996)। यहां तक कि इन सीमित शैक्षिक लक्ष्यों का पीछा करना भी कुछ राज्यों व क्षेत्रों में बुरी तरह से कमजोर पड़ गया। नीति के सामाजिक पुनर्गठन की झलक आगे भी राज्यों की कुलीन समर्थक और मध्यम वर्ग समर्थक नीतियों में मिली, जिसमें उन्होंने माध्यमिक शिक्षा को अनुदान दिया

शैक्षिक अवसरों की बराबरी के कार्यान्वयन के लिए मुख्य साधन के तौर पर सामान्य/पड़ोसी स्कूल प्रणाली के विचार को शासन करने वाले राजनैतिक कुलीनों ने अच्छे-खासे दुश्मनी भरे माहौल में नाकाम कर दिया। सामान्य स्कूल प्रणाली ने बाहरी तौर पर राजनैतिक प्रोत्साहन लेकिन अंदरूनी तौर पर कड़े प्रतिरोध को जागृत कर दिया।

और ग्रामीण गरीबों के संसाधनों को हड़प लिया जो सही मायने में उनके थे। व्यापक रूप से प्रचलित पदानुक्रम वाली विचारधारा ने जाति व वर्ग के आधार पर भेदभावपूर्ण स्कूलीकरण को सुनिश्चित किया। शहरी समूहीकरण खास तौर पर आड़े व खड़े रूप में बहुपरती स्कूली प्रणालियों के विकास व उनके संस्थानीकरण का गवाह रहा, जिसमें वर्ग, ओहदे, जातीय विशेषाधिकार और वंशानुगत सामाजिक प्रतिष्ठा की झलक मिलती थी (विलासकर, 1991)। इसके साथ ही एकल लैंगिक और सह-शिक्षा वाले, दोनों ही स्कूलों में ढांचों, मानदंडों और व्यवहारों के मामले में लैंगिक भेदभाव था, जिसमें स्थानीय लैंगिक माहौल की झलक मिलती थी।

शिक्षा के प्रमुख सेवादाता के तौर पर राज्य सरकारों को बड़े पैमाने पर प्रारंभिक शिक्षा को फैलाने के लिए पर्याप्त वित्त की प्राथमिकताएं निर्धारित करने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी।

इस भगीरथ कार्य के लिए क्षमताएं, सामाजिक ढांचागत बदलावों, विकास के स्तरों, राजनैतिक गतिशीलता और पूरे जनसमूह के लिए शिक्षा के लिए राजनैतिक प्रतिबद्धता से तय होनी थी। राजनैतिक व आर्थिक ताकत की तलाश और चुनावी राजनीति द्वारा गढ़ा गया शैक्षिक तंत्र, प्रणालीगत राजनैतिक जोड़-तोड़ और दुर्लभ शैक्षिक संसाधनों को जाति-वर्ग के मुताबिक इस्तेमाल किए जाने के अधीन था। जिस राजनैतिक वर्ग के पास नीतियों को लागू करने की ताकत थी, वह भी कार्यनीति के तौर पर दूसरों को अपनी सरपरस्ती में लेने और व्यक्तिगत फायदों के लिए तंत्र का इस्तेमाल करने में लगा था (कविराज, 1997)। स्कूलों के विस्तार को निहित स्वार्थों द्वारा अपने काबू में रखा गया जिसमें नौकरशाही की रूढ़िवादी विश्वास प्रणाली

भी शामिल थी, जिसके नतीजे में बेढंगी बढ़ोतरी, उपलब्धता में विषमता और पहुंच में गैर-बराबरी हुई (रूडोल्फ और रूडोल्फ, 1972; कामत, 1985; आचार्य, 1985; वाइनर, 1991; वेलासकर, 2006)। खास तौर पर जाति और सामंतवाद के गढ़ों में, जिसमें आर्थिक विकास, भूमि सुधार या सामाजिक आंदोलनों का बहुत ही कम असर देखा गया था, राज्य की नीति सीमित व नियंत्रित विस्तार करने की कतार से चली। ग्रामीण व शहरी कुलीनों की मांगों को पूरा करने के लिए उन्मुख भारतीय पूंजीवादी राज्य छिन्न-भिन्न शैक्षिक अवसरों की बराबरी को भी पूरा करने में कमजोर साबित हुआ। उदारवादी तरीके से विस्तार करने के राजनैतिक दायित्वों ने बुनियादी शैक्षिक प्रावधानों के फैलाव में गहरे असंतुलन के साथ ही पूरी तरह से और तुलनात्मक वंचना भी पैदा की। जैसा कि जिन दूसरे विकसित देशों में स्थानिक व सामाजिक वंचितों का सम्मिलन देखा गया है, वहां पर भौगोलिक गैर-बराबरियां जाति और जातीय फर्कों के साथ जुड़ी हुई थी (फॉस्टर, 1977)। दलित और आदिवासी बहुल इलाकों को पूरी तरह से भेदभाव सहना पड़ा और इसकी वजह से उनका लगातार बहिष्करण या टुकड़ों-टुकड़ों में समावेशीकरण होता रहा (वेलासकर, 2006)। कुल मिलाकर स्कूलों के विस्तार के पैटर्न ने एकदम अलग-अलग रास्ते पकड़े जिसके नतीजे में गैर-बराबरी, असंतुलन और असमानता मिली। हालांकि अपर्याप्त विस्तार ने वंचितों को खास सामाजिक, ऐतिहासिक हालातों में शिक्षा में आगे बढ़कर दाखिला लेने के स्थानीय संघर्षों को छेड़ने से नहीं रोका। वित्तीय प्रावधानों एवं पहुंच में बहुपरतीकरण और गैर-बराबरी के नक्शे-कदम की झलक गुणवत्ता की नीति और व्यवहार में नजर आई। गुणवत्ता की धारणा मुख्य रूप से अकादमिक उत्कृष्टता के मानदंडों के रूप में सोची-विचारी और इस्तेमाल की गई, बदले में जिसे छात्रों की शैक्षिक उपलब्धियों के संदर्भ में, खास तौर पर परीक्षा में हासिल किए गए अंकों में मापा गया। सार्वजनिक और निजी तंत्रों के समानान्तर फैलाव और विचारधाराओं की कई किस्मों, संस्कृतियों और शैक्षिक दर्शनों ने शिक्षा के क्षेत्र की खासियत इस तरह बताई है कि यह मानदंडों, उत्कृष्टता और गुणवत्ता का प्रतिपादन और उनकी एकाधिक धारणाओं का पोषण करता है, जिनकी झलक जाति व लैंगिक गैर-बराबरी और जातीय विविधता में देखी जा सकती है। बच्चे बहुत ही व्यापक तौर पर अलग-अलग चीजें सीखते हैं और अलग-अलग शैक्षिक स्तरों को हासिल करते हैं। हालांकि, बुनियादी तौर पर अंतर्निहित विविधता की वजह से, स्कूली तंत्र गैर-बराबर और अलग-अलग शैक्षिक गुणवत्ता के लिए अपना ध्यान सीधे-सीधे परीक्षा के नतीजों और आंकड़ों पर केन्द्रित करते हैं। शिक्षा आयोगों के प्रस्तावों में अभिव्यक्त की गई गुणवत्ता की बराबरी और शैक्षिक सिद्धांतों में बहुतायत से पाई जाने वाली

‘बच्चे और बच्चों’ की समझ की आपस में विरोधाभासी धारणाओं के साथ बहुपरती तंत्र अलग-अलग सामाजिक परतों या तहों वाले बच्चों के लिए अलग-अलग किस्म की शिक्षा व अलग-अलग किस्म के बर्ताव की व्यवस्था करता है, जो जाति, वर्ग, लिंग और जातीयता के आपसी घालमेल के आधार पर तय होता है। इस तरह यह बच्चों के बीच बुद्धि, प्रतिभा और क्षमता के मामले में ‘प्राकृतिक’ फर्कों के बारे में समस्याग्रस्त मान्यताओं को दोबारा मजबूत करता है। सरकारी स्कूलों के मानदंडों और वंचित बच्चों द्वारा शैक्षिक उपलब्धियों को हासिल करने के बारे में आमतौर पर पाई जाने वाली उपेक्षा विषमतावादी दर्शन के साथ संगत बैठती थी। यह मुद्दा बमुश्किल ही उठाया गया और राजनैतिक एजेन्डे में कभी भी प्रमुख नहीं रहा। अचरज नहीं कि इसके बारे में राष्ट्रीय नीति में सिर्फ आश्वासन भी सतही दावे के तौर पर था कि आम स्कूलों में शिक्षा के स्तर को सुधारने के लिए ‘जोरदार कोशिशें’ की जाएंगी (भारत सरकार, 1968)।

चूंकि गुणवत्ता के मुद्दे को बहुत मजबूती के साथ योग्यता के आदर्श के साथ नथी किया गया था, इसलिए इस बात की जांच करना जरूरी हो जाता है कि हमारे स्कूली तंत्र की नींव में मौजूद पदानुक्रम और अलगाव, योग्यता की बुनियादी मान्यताओं और शर्तों : बराबर अवसर का गहरा उल्लंघन करती है। तंत्र पूरी ढिठाई के साथ विशेषाधिकारों के लिए प्रतिबद्ध है और मध्यम व उच्च जाति/वर्ग के बच्चों की योग्यता का पोषण करता है और सक्रिय रूप से गरीबों व ऐतिहासिक तौर पर बहिष्कृत और मातहत समूहों के मामले में योग्यता के विकास और समान स्तर की बात को नकारता है। नतीजे पहले से तयशुदा हैं कि वंचितों के पास बुनियादी स्तरों को पूरा कर पाने के, अकादमिक कामयाबी के बराबर स्तरों को हासिल कर पाने और शिक्षा के अगले स्तरों तक रास्ता तय कर पाने के, मौके कम हैं।

इस भाग के आखिर में यह देखा जा सकता है कि सत्तर के दशक के ज्यादातर हिस्से और अस्सी के दशक के अच्छे वाले हिस्से में, टुकड़े-टुकड़े में और क्रमिक ढंग से विस्तारवादी नीति के साथे तले प्रारंभिक शिक्षा का विकास हुआ। शिक्षा की समानता वाले लक्ष्यों को खुल्लम-खुल्ला कुलीनतावादी, आधुनिकीकरण के लक्ष्यों में बदल दिया गया। चहुं-ओर फैली शैक्षिक गैर-बराबरी और प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण को हासिल करने में नाकामी सामान्य सचाई या स्वयंसिद्ध मान्यता के तौर पर स्थापित हो गई। बाद वाली चीज को एक पुराने व स्थायी राष्ट्रीय ‘संकट’ के तौर पर परिभाषित कर दिया गया, जिसे हल करने की जल्दबाजी किसी को हो, ऐसा नजर नहीं आ रहा था। नीतिगत तौर पर जनता के ध्यान के केन्द्र में प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण रहा, जिसके साथ नामांकन,

ठहराव व स्कूल छोड़ जाने की बुनियादी समस्याएं जुड़ी थीं। राज्य के 'कार्य' सुविधाजनक रूप से सार्वजनीकरण को हासिल करने के लक्ष्य को मशीनी तौर पर हासिल करने तक ही सीमित होकर रह गए।

2. वैश्वीकरण और नीति में बदलाव : 1986 और उसके बाद

अस्सी के दशक के मध्य से, बढ़ते वैश्विक पूंजीवाद के संदर्भ में और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं, राजनैतिक प्रणालियों व विचारधाराओं में आगामी ढांचागत बदलावों में, शिक्षा में बराबरी व गुणवत्ता की नीतियां आगे और भी बदलावों से गुजरीं।

राज्य के समाजवाद की नाकामी के संदर्भ में उदीयमान नव-उदारवाद और पीछे हटते समतावाद ने ऐसे विचारधारात्मक इलाकों का निर्माण किया, जिन्होंने वैश्वीकृत होती पूरी दुनिया भर में आर्थिक व सामाजिक नीतियों में बराबरी के विरोधी बदलावों को वैधानिकता प्रदान की (कैलीनिकोस, 2000)। शिक्षा पूरी निर्दयता के साथ वैश्वीकृत होती अर्थव्यवस्था की जरूरतों के मुताबिक नए ज्ञान व कौशलों की चंगुल में आ गई (ब्राउन व अन्य, 1997; कॉरनाय व हॉटन, 2002; बरब्लूस और टॉरेस, 2000)। शिक्षा के नए दर्शनों में हुई अभिव्यक्तियों में अंतर्राष्ट्रीय बहसों का बोलबाला है और इसने सार्वजनिक बहसों के राष्ट्रीय ढांचों पर असर डाला है। इन बहसों में वैश्वीकरण की सांस्कृतिक विचारधारा की छाप है (ऑल्सेन व अन्य, 2004)।

भारत में, शिक्षा में नीतिगत व विचारधारात्मक बदलावों को हम दो चरणों में बांटकर देख सकते हैं। पहले का उद्घाटन 1986 में नई शिक्षा नीति की शुरुआत से हुआ। दूसरा, नब्बे के दशक की शुरुआत में आर्थिक उदारीकरण की शर्तों के तहत, प्रणालीगत दखलंदाजी और वैश्विक दखलंदाजी एवं वित्तीय अनुदान के असर में राष्ट्रीय शिक्षा में बदलाव के साथ बहुत करीब से जुड़ा हुआ है।

नई शिक्षा नीति, 1986 का विचारधारात्मक उन्मुखीकरण

उभरती हुई वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारत की अहम भूमिका का पूर्वानुमान करते हुए, राजनैतिक नेतृत्व और शैक्षिक नीति-निर्माताओं ने शैक्षिक बदलाव की जरूरत की कुछ इस तरह कल्पना की कि उसे 'तेज गति से हो रही तकनीकी क्रांति की वजह से उभरने वाली

अनिवार्यताओं को गतिशील ढंग से निपटाने' (भारत सरकार, 1986) के काबिल होना चाहिए। वैश्विक आर्थिक ताकत, खास तौर से ज्ञान की अर्थव्यवस्था में हिस्सेदारी की दौड़ में, अनपढ़ों की तादाद में बढ़ोतरी और प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण को हासिल कर पाने में नाकामी राष्ट्रीय शर्मिन्दगी का कारण थी। ऊंची तकनीक वाले बाजार के विस्तार के जवाब में पैदा हुई आर्थिक अनिवार्यताओं और शिक्षा के सार्वजनीकरण के बकाया अधूरे कामों के राजनैतिक निहितार्थों के बीच जकड़ी नई राज्य नीति इस तनी हुई रस्सी पर चली और अपने नीतिगत ढांचे में दोनों प्रतिस्पर्धी दावों को सुलझाने

की कोशिश की। इसी प्रक्रिया में राज्य नीति मुकर गई और उसने राष्ट्रीय समतावादी लक्ष्यों को भी दोबारा परिभाषित कर दिया। हालांकि ज्ञान के साथ उद्देश्य की भावना, समता, सामाजिक मूल्यों और सामाजिक समरसता पर जोर देने वाले ऊंचे शैक्षिक लक्ष्यों को उसमें खुले तौर पर अभिव्यक्त किया गया था, लेकिन बगैर किसी बहस के और तुलनात्मक रूप से बगैर किसी की निगाह में आए, बराबरी के प्रति औपचारिक प्रतिबद्धता के मामले में नीति में महत्वपूर्ण बदलाव की निशानदेही कर दी गई : शैक्षिक अवसरों की बराबरी के सार्वभौमिक सिद्धांत से बदलकर बराबरी के 'दूसरे दर्जे के' सिद्धांतों में, जिनका जिक्र समता व क्षतिपूर्ति के सिद्धांतों के नाम से किया जाता है। विचारधारात्मक निर्माण या आदर्श के तौर पर समता, जरूरतों व न्याय की धारणा पर निर्भर करती है और संसाधनों और नुमाइंदगी के न्यायसंगत वितरण या आवंटन पर मूल्याधारित निर्णय देती है। संवैधानिक विचारधारात्मक

संश्लेषण को नए रूप में ढालते हुए नई शिक्षा नीति ने शैक्षिक अवसरों की बराबरी और समता का एक निराला ही चूरण बनाया : "अब तक जिन्हें बराबरी नहीं मिली है, नई नीति उनकी खास जरूरतों को पूरा करने की कोशिश करते हुए विषमताओं को मिटाने पर खासा जोर देगी और उनके लिए शैक्षिक अवसरों को बराबर करेगी" (भारत सरकार 1986, पृ. 6)। पहले भरपाई मूलक भेदभाव का मतलब शैक्षिक अवसरों की बराबरी को हकीकत में बदलने में मददगार होता था, उस पर अब एक अहम कार्यनीति के तौर पर जोर दिया गया जो समतामूलक नुमाइंदगी की ओर ले जाएगी (भारत सरकार, 1992 अ)। और भी, नीति ने दलितों, आदिवासियों व लड़कियों के तीन वंचित समूहों के लिए अलग-अलग प्रावधानों

की सिफारिश की। इनमें से पहले दो के लिए, भरपाई मूलक गठरी को और बड़ा कर दिया गया है, ताकि दशकों की उपेक्षा और खास तौर पर उनकी आवासीय इलाकों में पाई जाने वाली ढांचागत सुविधाओं की कमी को दूर किया जा सके। सामग्री संबंधी मदद, पाठ्यचर्या व भाषागत सुधारों के प्रति सीधी प्रतिबद्धता दर्शाई गई। आंचलिक और खास क्षेत्रों के लिए प्रावधान, शाला मानचित्रण, विकेन्द्रीकृत नियोजन आदि कुछ ऐसी कार्य नीतियों के तौर पर काम में लाई गई। उपरोक्त समूहों के बच्चों की खराब सेहत और कम पोषण, गरीबी के हालातों का सीधे सामना करने के लिए दोपहर के भोजन की योजनाएं चलाई गईं। हालांकि लड़कियों के लिए समता को प्रमुखतः समतावादी लैंगिक संस्कृति के विकास की ओर उन्मुख शैक्षिक प्रशासकों व शिक्षकों के प्रशिक्षण और पाठ्यचर्या व पाठ्यपुस्तक सुधार के जरिए सांस्कृतिक बदलाव के संदर्भ में परिभाषित किया गया।

कम वित्तीय प्रावधानीकरण के हालातों का सामना नई शिक्षा नीति ने मौजूदा स्कूलों के उन्नयन के लिए कार्यक्रमों और ज्यादा पूंजी वाले आम प्रावधानों के लिए प्राथमिकता निर्धारण करके मूलभूत प्रावधानों के प्रति प्रतिबद्धता जताकर किया (यानी ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड)। सातवीं से नवीं योजनाओं में वित्तीय प्रावधानों के आवंटन को बढ़ाया गया। हालांकि इसी के साथ-साथ नई शिक्षा नीति ने बाहरी निर्भरता के लिए जमीन भी तैयार कर दी। आखिरकार, हालांकि आवंटन लफ्फाजी के साथ मेल नहीं खाते थे और वित्तीय प्रावधानों के मामले में भारी-भरकम पुराने बकाया के लिहाज से नाकाफी से थे। वे पहली योजना के वक्त से ही कम पड़ते आ रहे थे और हालांकि राज्यों में केन्द्र द्वारा किया जाने वाला कुल खर्च बढ़ रहा था, लेकिन राज्यों को शैक्षिक खर्च का ज्यादातर हिस्सा वहन करना पड़ता था (तिलक, 2003)। अपर्याप्त धनराशि का सीधा असर दलितों व आदिवासियों के लिए की जाने वाली ढांचागत सुविधाओं के लिए किए जाने वाले वित्तीय प्रावधानों की प्रकृति पर पड़ा। इसके नतीजे में वैकल्पिक स्कूल की एक प्रणाली का स्वरूप निकलकर सामने आया। विस्थापित व कामकाजी बच्चों का इलाज अनौपचारिक शिक्षा में खोजा गया। बाद वाले तरीके की सिफारिश उल्लेखनीय ढंग से दलित व आदिवासियों की बस्तियों में प्रावधान करने की कार्यनीति के तौर पर भी की गई (भारत सरकार, 1992 अ)। इसलिए शैक्षिक अवसरों की बराबरी का परित्याग और उदारीकरण के तहत समता व भरपाई मूलक सिद्धांतों को गोद लेने या स्वीकार करने ने एक समानान्तर, दूसरे दर्जे के, भेदभाव मूलक स्कूलों की प्रणाली के संस्थानीकरण के लिए आधिकारिक तर्क और जगह मुहैया करवाई और नाकाम और साख खोकर बदनाम हो चुकी अनौपचारिक शिक्षा की कार्यनीति का पुनर्जागरण कर दिया।

विडंबना की बात यह थी कि उपेक्षा के ऐतिहासिक हालात सिद्धांतों पर समझौते को मंजूरी देने की बुनियाद बने और सार्वजनिक शिक्षा की एक समझौतापरक प्रणाली उनके लिए बनी जो पहले से ही मातहतकरण के शिकार थे और जिनके लिए अवसरों को “बराबर” किया जाना था।

नई शिक्षा नीति, शैक्षिक गुणवत्ता के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पैदा होने वाली भारी रुचि की झलक दिखलाती है। सार्वजनिक प्रावधानीकरण को घटाते जाने वाले अपने प्रारूप और गुणवत्ता को बढ़ाने की तमन्ना के बीच किसी भी तरह के विरोधाभास को न पहचानकर, वह गुणवत्ता की एक महत्वपूर्ण शैक्षिक लक्ष्य के तौर पर निशानदेही करती है : “तुलनात्मक गुणवत्ता की शिक्षा सभी बच्चों की पहुंच के अंदर होनी चाहिए” (भारत सरकार, 1986)। व्यवहार में, गुणवत्ता की लफ्फाजी भरी पैरवी और सामान्य स्कूल का उल्लंघन लगातार जारी रहा। गरीबों और वंचित ग्रामीण बच्चों की प्रतिभा का पालन-पोषण करने के कथित लक्ष्य के साथ जिला स्तरीय मॉडल स्कूलों की स्थापना इस बात की ओर इशारा करती है कि शैक्षिक कर्म में “कुछ के लिए गुणवत्ता” से जुड़े सरोकारों को “गुणवत्ता तक सबकी पहुंच” पर तरजीह मिल रही है, जो एक बार फिर कुलीनों की मांगों की ओर उन्मुख नजर आ रहा है (कुमार, 1985)। खास तौर से यह उपाय उभरते ग्रामीण कुलीनों की महत्वाकांक्षाओं के तुष्टीकरण के लिए किया गया था। सरकारी स्कूलों में समता के साथ गुणवत्ता की बेहतरी के लिए नई कार्यनीति न्यूनतम अधिगम स्तर के नाम से गढ़ी गई, जिसमें क्षमता आधारित शिक्षण और सीखने पर ध्यान केन्द्रित किया गया था (भारत सरकार, 1992 ब)।

ढांचागत समायोजन कार्यक्रम और नवउदारवादी शैक्षिक सुधारों की ओर झुकाव

शिक्षा के दोबारा पुनर्गठन का दूसरा ज्यादा प्रचंड दौर नव्वे के दशक में वित्तीय संकट और उधारी के हमले के बाद शुरू हुआ। संकट की वजह से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में ढांचागत समायोजन और उदारीकरण की आर्थिक नीतियों की अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की रूढ़िवादिता के साथ तालमेल की शुरुआत हुई जिसकी जड़ें नवउदारवादी विचारधारा में थीं (नय्यर, 1998)।

नेहरूवादी काल की समाजवादी सामूहिकतावाद की धारणाओं और नेहरूवादी काल के बाद कई किस्म के लोकप्रियतावाद के विरोध में, नवउदारवाद ने आत्मलीन व्यक्तिवाद के समारोह और सचेतन तौर पर सामाजिक न्याय के आदर्श से मुंह मोड़ दिया। निजी उद्यम और बाजार, जो अब समृद्धि और तरक्की की चाबी के तौर पर देखे जाने लगे, राज्य के चंगुल से आजाद होने वाले थे। इसलिए, अब तक

बहुत ही मामूली से लोक-कल्याणकारी दायित्वों को पूरा करने में भारी नाकामी के बावजूद, भारतीय राज्य को खुद का आकार घटाने और व्यवहारिक व लोक-कल्याण हो चुकने के बाद के रुख को अपनाने के लिए मजबूर किया गया। बाजारों को खोलने के साथ तालमेल बैठाने हुए, इस दौर ने राज्य, बाजार और स्कूलों के बीच संबंधों को बड़े पैमाने पर दोबारा परिभाषित होते हुए देखा। वैश्विक अभिनेताओं की सहभागिता में राज्य ने शिक्षा के नए राजनैतिक अर्थशास्त्र की शुरुआत की और पश्चिमी नवउदारवादी शैक्षिक प्रतिमानों से मनमाने तरीके से उधार लिए गए आदर्शों व कार्य नीतियों को मिलाकर शैक्षिक सुधारों की एक गठरी बनाई। इस कदम ने नई शिक्षा नीति में जो कुछ भी समतावादी किस्म के झूठे दावे मौजूद थे उन्हें बड़ी कुशलता से बेदखल कर दिया।

स्कूलों के अपने व्यापक जाल और अंदरूनी व बाहरी शैक्षिक कोषों के नियामक के तौर पर अपनी केन्द्रीय भूमिका के साथ राज्य ने प्रमुख प्रशासक और काफी सारे मानदंड, आवंटन व नियमितकरण संबंधी ताकत के तौर पर अपनी पुरानी मशहूर जगह बरकरार रखी। हालांकि इसने प्रमुख सेवादाता के तौर पर अपनी भूमिका को कमजोर कर दिया और व्यापक जनसमूह को शिक्षा मुहैया करवाने में सरकार के अलावा दूसरे संस्थानों की हिस्सेदारी चाहने लगा, जैसे, निजी क्षेत्र में लाभ कमाने वाले व्यावसायिक क्षेत्र, गैर-लाभकारी, गैर-सरकारी क्षेत्र और 'समुदाय' नामक आकारहीन सत्ता से। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उछाल के बावजूद, सार्वजनिक शिक्षा में निवेश बढ़ाने को लेकर राज्य में तगड़ी अनिच्छा मौजूद रही, इस रवैये ने उन अर्थशास्त्रियों को तीखा आरोप लगाने के लिए मजबूर किया, जिनका साफ तौर पर मानना था कि यह बात "सरासर बकवास है कि राज्य इस खर्च को बर्दाश्त नहीं कर सकता" (तिलक, 2004; सद्गोपाल, 2001 में उद्धृत सेन)। यह देखते हुए कि विदेशी अनुदान ने राष्ट्रीय शैक्षिक बजट में किसी तरह का उल्लेखनीय इजाफा नहीं किया है, उदारीकरण के दौर में वास्तविक खर्च और शिक्षा की इकाई लागत तथा पूंजीगत मदों में न्यूनतम खर्च, तेजी से कम हुआ है (तिलक, 2003, 2004)। लागत प्रभावी कार्य नीतियों और संस्थागत प्रक्रियाओं का एक मुर्बूबा तैयार हुआ है, जिसमें शामिल किए गए हैं : विकेन्द्रीकृत शासन प्रणाली, शैक्षिक (सार्वजनिक सहित) प्रावधानीकरण में निजी क्षेत्र के लिए ज्यादा मौके बनाना, नियमित शिक्षकों को

हटाकर उनकी भरपाई पैरा-टीचरों से करना, पेशेवर प्रबंधन प्रणालियों को समृद्ध करना आदि। इसके विचारधारात्मक और व्यावहारिक नतीजे में राज्य प्रणाली का अवैधानिकीकरण हो चुका है और इसके कर्मियों, खास तौर पर स्कूली शिक्षकों की साख बर्बाद हो चुकी है, जो इसकी सबसे कमजोर कड़ी है।

आर्थिक उदारीकरण के सीधे नतीजे के तौर पर शिक्षा के क्षेत्र में विश्व बैंक का असरदार दाखिला हुआ था, इस तर्क की बिना पर कि वह प्रमुख सामाजिक क्षेत्रों को सुरक्षा प्रदान करेगा और सरकारी नियम कायदों में ढील दिए जाने के मद्देनजर सामाजिक सुरक्षा जाल मुहैया करवाएगा (राबर्टसन व अन्य, 2007)। द्विपक्षीय अनुदानित

परियोजनाओं के छिड़काव की नीति का अनुसरण करते हुए, विश्व बैंक के वित्तीय अनुदान से राष्ट्रीय स्तर के एक प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम की अभिव्यक्ति के तौर पर जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम का गठन किया गया (कुमार व अन्य, 2001)। इसकी परिकल्पना एक समयबद्ध कार्यक्रम के तौर पर की गई, जिसका मकसद पूरे देश में फैले शैक्षिक तौर पर पिछड़े जिलों में न्यायसंगत पहुंच और गुणवत्ता हासिल करना था। जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम ने गुणात्मक व मात्रात्मक तौर पर प्रावधानीकरण की बहुआयामी कार्यनीति को अपनाया (मानव संसाधन व विकास मंत्रालय, 1998; कुमार व अन्य, 2001)। पहुंच के मामले में लैंगिक व जातिगत गैर-बराबरियों में कमी लाने के तौर पर समता को परिभाषित किया गया और इसे पांच प्रतिशत से कम की सहनीय सीमा में लाने का लक्ष्य रखा गया (कुमार व अन्य, 2001; रामचंद्रन, 2004)। हालांकि एक कपटपूर्ण चाल के जरिए

आठ साल की प्राथमिक शिक्षा के संवैधानिक आदेश को पांच साल की प्राथमिक शिक्षा में बदल देना (सद्गोपाल, 2001) जल्द ही किसी भी किस्म के समतावादी दिखावे को गलत साबित कर देते हैं। मौजूदा वक्त में, प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लिए राज्य का नया अभियान, सर्व-शिक्षा अभियान नए, लक्ष्यों व नई समय सीमाओं को तय करते वक्त उन्हीं कार्यनीतियों की पैरवी करता है। जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम और सर्व शिक्षा अभियान, दोनों ही पसंदीदा समतावादी कार्यनीति के तौर पर, वंचित समूहों के पक्ष में विशेष प्रावधानों पर जोर देते हैं।

निजी क्षेत्र के साथ भागीदारी में सरकारी कार्यक्रमों/योजनाओं को लागू करने के तरीके के तौर पर सार्वजनिक व निजी भागीदारी की

पेरवी बढ़ रही है। लंबे समय तक व मजबूती के साथ जिन समाजों में समतावादी सुधारों को लागू करने का इतिहास रहा है, उनमें भी जाहिर तौर पर नाकाम हो चुकी खर्ची की पर्ची (उर्फ वाउचर) प्रणाली को गरीबों के लिए जबरदस्त 'चुनाव' के नजरिए से आजमाने की कोशिश करके देखा जा रहा है। नई-नई बनी व फैलती हुई शैक्षिक जगहें, नए व्यावसायिक किस्म के शैक्षिक दाताओं को मुहैया करवाई जा रही हैं। अब उनके निजी स्कूल गरीबों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मुहैया करवाने के पसंदीदा माध्यम होंगे। नियमों में ढील दे रहा राज्य आमतौर पर उनके गैर-मान्यता प्राप्त ओहदे और अंदरूनी कामकाज (कारगुजारियों) की ओर से आखें मूंदे रहता है। उसी वक्त राज्य द्वारा सबसे ऊंचे स्तर की कार्रवाई करके समता और भरपाई के नए सार्वजनीन सिद्धांतों को नई जिंदगी दी जाती है। सन् 2002 में नवउदारवादी सुधार की पराकाष्ठा के वक्त, राष्ट्र संविधान में 86वें संशोधन का गवाह बना, जिसने शिक्षा को मौलिक अधिकार बना दिया। आज निहाई (लोहार का एक औजार जिस पर लोहे को मनचाहे रूप में गढ़ा जाता है) पर एक बिल है जो निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा के अधिकार को मुहैया करवाता है जो कि नवउदारवादी सुधारों की तरफ झुकाव की ओर भी निशानदेही करता है। समता की लफ्फाजी चाहे जो भी हो, सुधारों में अंतर्निहित एकीकृत नियम बाजार है। और इंसानी पूंजी के सिद्धांत के बूते पर उपकरणवादी, कौशल आधारित ज्ञान और कार्यक्षमता, जवाबदेही और प्रदर्शनकारिता के बाजारोन्मुख मूल्यों के एक नए दर्शन ने शैक्षिक प्रक्रियाओं को तोड़-मरोड़ डाला है (बॉल, 2006)।

शिक्षा की गुणवत्ता पर इस नए वैश्विक जोर और विकासशील देशों द्वारा उसके अनुसरण को, इस बदले हुए परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। खुद के द्वारा अनुदानित कार्यक्रमों में विश्व बैंक गुणवत्ता सुधार की कार्यनीतियों और खास धारणाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। वैश्विक अभियानों (उदाहरण के लिए, जॉमेतियेन, डकार) में सभी के लिए शिक्षा अभियान द्वारा सिर्फ मात्रात्मक पहलुओं पर जोर देने की निंदा की गई और दावा किया कि "शिक्षा के केन्द्र" में गुणवत्ता होनी चाहिए थी। और अभी हाल ही में, यूनेस्को ने वैश्विक घोषणाओं को मूर्त रूप देने की कोशिश करते वक्त, गुणवत्ता की शब्दावली को परिभाषित करने का जिम्मा लिया और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लागू करने के लिए नीतिगत बदलाव सुझाए। गुणवत्ता को परिभाषित करने की कोशिश ने दो सिद्धांतों की ओर अपना ध्यान खींचा। पहले में, सभी शिक्षा प्रणालियों में शिक्षार्थी के संज्ञानात्मक विकास की एक साफ-सुथरे व प्रमुख उद्देश्य के तौर पर पहचान की गई और इसमें हासिल की जाने वाली कामयाबी को शिक्षा प्रणालियों की गुणवत्ता के एक सूचकांक की तरह देखा गया। दूसरे में आमतौर पर साझे मूल्यों और सृजनात्मक

व भावनात्मक विकास को बढ़ावा देने में शिक्षा की भूमिका पर जोर दिया गया, ये ऐसे उद्देश्य थे जिनमें उपलब्धि का आंकलन करना ज्यादा मुश्किल माना गया (यूनेस्को, 2005, पृ. 5)।

भारत में, विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम ने गुणवत्ता को अपने केन्द्रीय मुद्दे के तौर पर परिभाषित किया और गरीबों की सीखने में उपलब्धियों के साथ राष्ट्रीय सरोकारों पर जोर दिया। इसकी मार्गदर्शिका ने गुणवत्ता को साफ तौर पर परिभाषित तो नहीं किया, लेकिन उसमें गुणवत्ता को बेहतर बनाने को लेकर एक लंबी बहस थी, जिसका ताल्लुक स्कूल के विभिन्न आयामों के साथ था, जैसे, कक्षा प्रक्रियाएं, शिक्षकों की दक्षताएं, शिक्षण अधिगम सामग्री, शिक्षार्थियों की दक्षताएं, शैक्षिक कर्मियों की पेशेवर व प्रबंधकीय क्षमताएं आदि। इसमें एक सक्रिय बाल केन्द्रित कक्षा का शिक्षणशास्त्रीय नजरिया था, जिसमें प्रयोगात्मक, गतिविधि आधारित सीखना-सिखाना न्यूनतम आधिगम स्तर को हासिल करने में मदद करने वाला था (मानव संसाधन, विकास मंत्रालय 1998)। गुणवत्ता में बढ़ोतरी की एक प्रमुख कार्यनीति के तौर पर शैक्षिक कर्मियों के लिए क्षमता निर्माण कार्यशालाओं को रखा गया था और अनगिनत कार्यक्रम और गतिविधियां आयोजित की गई थीं। सर्व शिक्षा अभियान नामक सबसे हालिया राष्ट्रीय अभियान गुणवत्ता में काफी बड़ी मात्रा में बेहतरी लाने के संकल्प को दोहराता है और जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम की ही तरह सभी शैक्षिक पहलुओं को अपने दायरे में समेटने वाली व्यापक व समग्र तरीके अपनाने के लिए प्रतिबद्ध है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय के निर्देशों के मुताबिक राज्य सरकारों ने गुणवत्ता की निगरानी के लिए औजार तैयार किए हैं।

न्यूनतम अधिगम स्तर का असली व्यवहार हालांकि हल्का या कमजोर करने और दोहरापन की खासियतों से लैस नजर आता है। इसमें संज्ञान और संदर्भ पर जोर देने वाली औपचारिक सैद्धांतिक बहस से उलट, राज्य के स्कूलीकरण में गुणवत्ता की कोशिशों में शिक्षार्थियों की उपलब्धियों के आंकड़ों को बढ़ाने के पारंपरिक व संकीर्ण नजरिए पर पूरा का पूरा जोर नजर आता है (कुमार, 2004)। शिक्षार्थियों को सिखाए जाने वाले लक्ष्यों का बहुत बारीकी से विस्तार नहीं किया गया। न्यूनतम अधिगम स्तर के आंकलन के लिए बनाए गए परीक्षणों में बहुत विविधता थी जो निगरानी व मूल्यांकन करने वाली एजेन्सियों के विविध नजरियों को दर्शाती थी (यादव और भारद्वाज, 2002)। अनिवार्य तौर पर, स्कूलों की बहुत बड़ी संख्या में सिखाने व सीखने की बर्बाद हालातों (अगले भाग में बताई गई) को ध्यान में रखते हुए वे मोटे तौर पर न्यूनतम स्तरों पर ही रही। हालांकि सीखने के मानदंडों को ऊंचा उठाने के बजाय न्यूनतम अधिगम स्तर की गुणवत्ता को बेहतर करने वाले उपाय के

तौर पर शेखी बधारी गई लेकिन इसकी पहचान न्यूनतम स्तरों के साथ ही नथी हो गई। पाठ्यचर्या की योजना के तौर पर भी न्यूनतम अधिगम स्तर की यह कहकर आलोचना की गई कि उसमें अवधारणात्मक और ज्ञानमीमांसीय स्तर पर खोटा है (धनकर, 2003)।

सारांश में कहें तो, वृद्धि की नई वैश्विक और राष्ट्रीय राजनैतिक अर्थव्यवस्था के संदर्भ में, शैक्षिक बराबरी और गुणवत्ता की विचारधारा बुनियादी किस्म के बदलावों से गुजरी। समता के नए लक्ष्यों को ध्यान में रखकर बनाई गई शैक्षिक कार्यनीतियों ने धीरे-धीरे राज्य द्वारा प्रायोजित विस्तारवाद की शुरुआती कोशिशों को दर-बदर यानी बेदखल कर दिया। गुणवत्ता में समतावाद को शामिल करने की तमन्ना पुराने उदारवादी आदर्शवाद से ऐसे वक्त में बिल्कुल ही असंगत नजर आने लगता है जब निजी व सार्वजनिक शैक्षिक निर्णयों की कुंजी उपकरणवादी धारणाओं में हासिल होने लगती है। समकालीन शैक्षिक असलियत पर इसका असर साफ नजर आता है।

3. शैक्षिक गैर-बराबरी की मौजूदा समस्या

अब हम मौजूदा व्यवस्था और नीतिगत कड़ियों के साथ उसके गूढ़ संबंधों के अंतर्गत नए समतावादी लक्ष्यों की तकदीर का जल्दी से एक जायजा लेंगे। हाल ही में किए गए सूक्ष्म स्तरीय व वृहद् स्तरीय अध्ययनों से मिले सबूतों की बुनियाद पर हम पांच महत्त्वपूर्ण गैर-बराबरियों व नाइंसाफियों के संदर्भों में सुधार के नतीजों पर रोशनी डालेंगे, जो राज्य के पीछे कदम हटाने और नए विस्तारवाद की वजह से गहरी हुई है।

इस तरह हम देखते हैं : 1. अन्यायपूर्ण पहुंच की लगातार मौजूदगी; 2. बुनियादी वित्तीय प्रावधानों के स्तरों में और कमी आना; 3. निजीकरण के अंतर्गत प्रणालीगत पदानुक्रम का और ध्रुवीकरण; 4. प्रभुत्व की अंदरूनी प्रक्रियाओं की लगातार मौजूदगी; और 5. उपलब्धि हासिल करने में गैर-बराबरियों का महत्त्वपूर्ण ढंग से बने रहना। समाजशास्त्रीय नजरिए से हमें यह अंतर्दृष्टि मिलती है कि शैक्षिक गैर-बराबरी की जड़ें, जाति, वर्ग, जातीयता और लैंगिक बहुपरतीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं और शिक्षा प्रणालियों के खास स्वरूपों को संस्थानीकृत करने वाली राज्य की नीतियों के बीच, आपसी मेलजोल के बीच बहुत ही पेचीदा तरीके से जमी हुई हैं

(वेलासकर, आगामी)। जनसंख्या के बड़े हिस्से के लिए ढांचागत बाधाओं से पार पाना अभी भी दिल दहला देने वाला काम है। यहां पर उद्धृत किए गए अध्ययन सामाजिक वर्ग, पैतृकवाद और जातीय मूल के उभार को साबित करने के लिए पर्याप्त सबूत मुहैया करवाते हैं। हालांकि इस हिस्से में ध्यान इस बात पर केन्द्रित किया गया है कि किस तरह से दोबारा पुनर्गठन प्रारंभिक स्कूल प्रणाली गैर-बराबरी व दबदबे वाली प्रक्रियाओं को गढ़ती और उन्हें मजबूत करती है।

निजी क्षेत्र के साथ भागीदारी में सरकारी कार्यक्रमों/योजनाओं को लागू करने के तरीके के तौर पर सार्वजनिक व निजी भागीदारी की पैरवी बढ़ रही है। लंबे समय तक व मजबूती के साथ जिन समाजों में समतावादी सुधारों को लागू करने का इतिहास रहा है, उनमें भी जाहिर तौर पर नाकाम हो चुकी खर्ची की पर्ची (उर्फ वाउचर) प्रणाली को गरीबों के लिए जबरदस्त 'चुनाव' के नजरिए से आजमाने की कोशिश करके देखा जा रहा है।

पहुंच और भागीदारी में लगातार मौजूद गैर-बराबरी

कई सारे किस्म के कार्यक्रमों, कार्यनीतियों और राज्य, निजी व गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा किए गए और ऊपर बताए गए हस्तक्षेपों के सम्मिलित असर और ढेर सारे संसाधनों, व्यक्तियों व गतिविधियों को उड़ेलने का नजर आने लायक मात्रात्मक असर पड़ा है। स्कूलों की उपलब्धता में वृद्धि और वंचित समूहों की भागीदारी के बढ़ने से नामांकन बढ़ा है। पहुंच बढ़ने से बेमिसाल तरीके से शिक्षा की मांग में वृद्धि बढ़ी है और शिक्षा की अहमियत की बढ़ती जागरूकता को पूरे देश में होने वाले अध्ययन दर अध्ययन में दर्ज किया गया है। इस सब की वजह से कई राज्यों ने, जिनमें शैक्षिक नजरिए से 'पिछड़े' राज्य भी शामिल हैं, प्राथमिक शिक्षा में करीब-करीब पूरे नामांकन का दावा कर दिया है। हकीकत हालांकि यह है कि कुछ मात्रात्मक समृद्धि के बावजूद, नियमित हाजिरी, ठहराव और प्राथमिक शिक्षा को संतोषजनक तरीके से पूरा कर पाना, अभी भी आगे बढ़ चुके कुछ राज्यों में भी एक प्रमुख समस्या बना हुआ है।

क्षेत्र, जाति, आर्थिक पृष्ठभूमि, धर्म और लैंगिकता के आंकड़ों का सावधानीपूर्वक किया गया विश्लेषण इस बात को उजागर करता है कि गैर-बराबरियां अभी भी स्वीकार्य स्तरों तक कम नहीं हुई हैं। सबसे ज्यादा मातहतकरण भुगतने वाले और सबसे गरीब जातीय समूह अभी शैक्षिक वंचना को पूरी तरह से झेल रहे हैं। लैंगिक और वर्गीय भेदभाव अभी भी उनमें एकदम साफ नजर आता है। इसलिए, नए नीतिगत हस्तक्षेपों और शैक्षिक प्रणाली के आकार में बढ़ोतरी की वजह से पहुंच की समस्या सिर्फ आंशिक तौर पर व सीमित अर्थों में ही कम हुई है।

सार्वजनिक वित्तीय प्रावधानों की कमी

गैर-सरकारी संस्थाओं की मदद से राज्य प्रणाली के विस्तार व फैलाव के बावजूद खास जरूरतों की ओर अपर्याप्त ध्यान और कम प्रावधानीकरण दलितों, आदिवासियों, खास तौर पर घुमंतू और गैर-अधिसूचित आदिवासी समूहों व लड़कियों को अभी भी सताता है, तो और ज्यादा अलग-थलग पड़े समूहों जैसे खास चुनौतीपूर्ण समूहों को। सबसे बदतर बात तो यह है कि कम संसाधनों और कम ढांचागत सुविधाओं वाले, दोनों ही तरह से सस्ते विकल्प के तौर पर दसियों हजारों की संख्या में नए शिक्षण केन्द्र उन क्षेत्रों में खोले गए, जहां पर मातहतिकरण किए हुए समूह बसे हुए थे। प्राथमिक स्कूलीकरण की विस्तारित लेकिन लुंज-पुंज होती राज्य प्रणाली की खासियतें नाकारा हो चुके स्कूल थे, जो शिक्षकों की काबिलियत और उनके लिए वित्तीय प्रावधानों, सीखने व सिखाने के हालातों और शैक्षिक उपलब्धियों के घटते मानदंडों की आधिकारिक तौर पर स्वीकृति पर आधारित थे, जो स्कूल कहे जाने वाले संस्थान की बुनियादी जरूरतों पर खरे नहीं उतरते थे। नए विस्तारवाद द्वारा पैदा की गई समस्या की जड़ यही है। इस नए विस्तारित वैकल्पिक प्रणाली में पाए जाने वाले इन हालातों की गवाही कई अध्ययन देते हैं (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषद, 2005)।

खास तौर पर शिक्षा के क्षेत्र में महारत रखने वाले गैर-सरकारी संस्थानों ने वंचित आबादी वाली छोटी-छोटी जगहों में कुछ शानदार काम किया है (नवानी, 2002)। हालांकि अनुभव सुझाता है कि ढांचागत व राजनैतिक रूप से विस्तार करना या उस काम को फिर से दोहरा पाना मुश्किल होता है। इसके अलावा कई कारणों से गैर-सरकारी संस्थानों की कोशिशों को जिंदा रख पाना मुश्किल साबित होता है। आर्थिक निर्भरता उन्हें हेर-फेर व नियंत्रण के लिहाज से कमजोर बना देती है। तेजी से बढ़ता और अराजनैतिक किस्म का गैर-सरकारी क्षेत्र का बड़ा हिस्सा इस काम के लिए अनुपयुक्त है।

निजीकरण और उसके (गैर) बराबरी वाले असर

शिक्षा के क्षेत्र को खोलने के नतीजे में, पिछले दशक ने गरीबतर व ग्रामीण आबादी की सेवा में गैर-अनुदानित प्राथमिक स्कूलों की बहुत तेज परंतु असमान वृद्धि देखी है (डे व अन्य, 2002; किंगडन, 1996)। हम इसका संदर्भ नए निजीकरण के तौर पर लेंगे। इसके काम का दायरा और भौगोलिक फैलाव का पैटर्न, बढ़ी हुई मांग और गरीबों में ऊपर की ओर गतिशीलता चाहने वाले व समृद्ध हिस्सों के बीच बढ़ते सामर्थ्य के साथ जुड़ा हुआ है। निजी स्कूलों की बढ़ती मांग गांव देहात में पूंजीवादी तर्क के गहरे तक धंसने के नतीजे का हिस्सा है और एक किस्म की राजनैतिक जागरूकता, जो ठीक ही

समझती है कि गैर-खेतीहर, शहरी नौकरियों के बाजार में दाखिल होने और उसमें कुछ फायदा हासिल करने के लिए शिक्षा एक जरूरी औजार है। अपने बच्चों के बेहतर पेशेवर या व्यावसायिक भविष्य चाहने के लिए अपनी खरीद क्षमता को इकट्ठा करके रखने वाले परेशान हाल अभिभावकों की शैक्षिक जरूरतों को पूरा करने में नया निजीकरण मदद करता है। तुलनात्मक खासियतों के साथ सरकारी स्कूलों की गैर-मौजूदगी के मौजूदा संकट में, निजी स्कूलों और उसमें भी खास तौर पर अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों को व्यावहारिक व वहन करने लायक समाधान के रूप में देखा जाता है। उपयोग करने की दर और शोध से मिलने वाली अभिभावकों की राय से ऐसा लगता है कि नए निजी स्कूल, कम से कम नाकारा हो चुके सरकारी स्कूलों से बेहतर नतीजे देते हैं।

इसी बीच नवउदारवादी पूंजीवादी तर्क लगातार पूरी बेरहमी से शैक्षिक ढांचों में वर्ग भेद और गतिशीलता के लिए संघर्षों, दोनों पर जोर देते हुए, सभी स्तरों पर निजीकरण करने और बाजार की ताकतों को बढ़ाने का काम कर रहा है। नतीजे में प्रणालीगत पदानुक्रम में समेकन, भेदभाव करना और धुवीकरण करना शामिल हुआ है। सबसे ऊपरी दायरे में आने वाले स्कूल तथा कथित 'सर्वोत्तम' स्कूल सिर्फ दौलतमंद कुलीनों के लिए सुरक्षित हैं। वे खास किस्म की (यानी सिर्फ आपके लिए) पाठ्यचर्या की गठरियों की पसंदगी करवाते हैं जो अंतर्राष्ट्रीय साख की प्रतिष्ठा से सजी-संवरी होती हैं, 'ऊंचे मानदंडों' को लगातार तय किया जाता है और उन्हें फैलाया जाता है। सबसे नीचे ऊपर बताई गई दो परतें होती हैं : राज्य की लुंज-पुंज होती स्कूल प्रणाली और उसके कुछ ऊपर नया निजीकरण। पहले वाला ग्रामीण व शहरी वैश्विक अर्थव्यवस्था के सबसे ज्यादा शिकार हुए गरीबों से ताल्लुक रखता है। वे शैक्षिक वंचना के अलावा, आजीविका, आवास, भूख, खराब स्वास्थ्य, सामाजिक भेदभाव का भी बोझ झेलते हैं। अपने बच्चों के स्कूलीकरण के लिए वे पहले से ही जितना कर पा रहे हैं, उससे ज्यादा खर्च को वहन कर पाने में समर्थ नहीं हैं और उनका असली 'चुनाव' सिर्फ सबसे नजदीकी मुफ्त में मुहैया करवाई जाने वाली शैक्षिक सुविधा है। राज्य के कदम पीछे खींच लेने के कारण होने वाले सबसे प्रमुख शिकार वे ही हैं।

दबदबे और भेदभाव की कक्षायी प्रक्रियाएं और आंतरिक स्कूल

सरकारी और निजी दोनों ही तरह के स्कूल लोकतांत्रिक बराबरी वाली जगहें नहीं हैं, जैसा कि उन्हें होना चाहिए था। अगर वे खुले-आम भेदभावमूलक नहीं हों तो भी बहिष्करण, भेदभाव और दबदबे के कुछ तौर-तरीके, सामाजिक संबंधों, कक्षायी व्यवहार व पाठ्यचर्या के स्वरूपों में काम करते हैं (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान

एवं प्रशिक्षण परिषद्, 2005)। जाति, वर्ग, धर्म, भाषा, लैंगिकता, पूरे जी-जान से, सांस्कृतिक मूल्यों और सामान्य समझ से निकलने वाले अर्थों से स्कूलों की रोजमर्रा की जिंदगी को गढ़ती है। इन प्रक्रियाओं के बच्चों पर शारीरिक, भावनात्मक, संज्ञानात्मक और शिक्षणशास्त्रीय असर होते हैं। धर्मनिरपेक्ष समतावाद पर सांस्कृतिक बहुसंख्यकवाद की ताकतों द्वारा किए जाने वाले हमलों ने शिक्षा प्रणाली के मूल्यपरक ढांचे को और भी बर्बाद कर दिया। बेरोक-टोक होने वाला निजीकरण, नव-दक्षिणपंथी तत्वों को ज्यादा से ज्यादा दाखिल होने देने में मददगार बन रहा है।

उपलब्धि हासिल करने में गैर-बराबरी

ढांचागत गैर-बराबरी की हालातों के सीधे-सीधे नतीजे के तौर पर स्कूलों के वर्गों व प्रकारों के बीच उपलब्धि स्तरों के नतीजों में साफ-साफ फर्क नजर आता है और बच्चों के उपलब्धि स्तर भयानक रूप से कम पाए जाते हैं। बड़ी संख्या में सूक्ष्म स्तरीय शोध अध्ययनों में मिले सबूत सामाजिक मूल और शैक्षिक उपलब्धि के बीच संबंधों को साबित करते हैं।

बहुत साफ कारणों से, एक के बाद एक सरकारें शैक्षिक उपलब्धियों के आंकड़ों को व्यवस्थित तौर पर इकट्ठा करने से हिचकिचाती रही हैं। जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम की पहलकदमियों में शैक्षिक उपलब्धियों के शुरुआती मूल्यांकनों ने यह दिखाया कि असर बहुत ही सीमित था और फायदा बेहद मामूली-सा था (कुमार व अन्य, 2001)। कुछ राज्यों में हुए अध्ययनों के नतीजों को एक साथ लाने की कोशिशों से यह बात उजागर हुई कि कुछ राज्यों में सुधार हुआ है लेकिन यह भी पता चला कि माध्य शैक्षिक उपलब्धि स्तर से काफी कम थी। अध्ययनों ने सीमित परिभाषाओं व मापकों को काम में लेते हुए न्यूनतम अधिगम स्तर को भी गलत समझा। अध्ययनों का पूरा ध्यान भाषा व गणित वाले हिस्से पर ही था, न्यूनतम अधिगम स्तर के मूल्यों वाले हिस्से का अध्ययन किया ही नहीं गया (यादव व भारद्वाज, 2002)। कुल मिलाकर कहीं तो यह देखा गया है कि न्यूनतम तयशुदा स्तरों को हासिल करने के लिए राज्य द्वारा शुरू की जाने वाली बड़ी योजनाओं का असर न्यूनतम, बिखरा-बिखरा सा और दो-चार दिन का यानी अस्थायी-सा मालूम पड़ता है। जितने बड़े पैमाने पर कोशिश की गई, उसके उतने नतीजे नहीं मिल पाए (उपरोक्त, 2002)।

4. बराबरी व गुणवत्ता की पहली : चर्चा

अब हम शैक्षिक गैर-बराबरी की बड़ी-चढ़ी व लगातार मौजूदगी और नीति, सिद्धांत व व्यवहार में बराबरी की कमजोर पड़ती धारणा के समकालीन संदर्भों में गुणवत्ता के मुद्दे पर चर्चा करेंगे। ज्यादा से ज्यादा शैक्षिक बराबरी और न्याय की ओर बढ़ने की उम्मीदों को

धूल में मिलाने का काम समकालीन शिक्षा के हालात कर रहे हैं। इससे ठीक उलट, साफ तौर पर और ज्यादा ध्रुवीकरण की ओर बढ़ने और लगातार वंचना के बने रहने तथा शिक्षा में गुणवत्ता और उसकी मात्रा के मामले में और ज्यादा तुलनात्मक रूप से गैर-बराबरी की ओर बढ़ने की बात नजर आती है। इसीलिए, गैर-बराबरी का अहम ठिकाना अभी भी पहुंच के इलाके में और प्राथमिक शिक्षा को पूरा करने में ही बना हुआ है।

विचारधारात्मक और सामग्रीपरक बदलाव

एक कमजोर लोक कल्याणकारी राज्य के बाहर से और उसके ऊपर काम करने वाले विचारधारात्मक ढांचों ने यह पक्का कर दिया कि बराबर अवसरों का सवैधानिक सिद्धांत सबसे अहमतरिनी क्षेत्र-शिक्षा, में ठीक तरह से लागू न हो पाए। जिन देशों में बड़े पैमाने पर शिक्षा के व्यापकीकरण की ओर बढ़ने की कोशिशें होती देखी हैं, उनके उलट हम भारत की राजनैतिक संस्कृति के हिस्से के तौर पर उदारवादी समतावाद की नाकामी के गवाह रहे हैं। शैक्षिक अवसरों की बराबरी को कम करके और प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के जरिए बेदखल करके उसे करीब-करीब मातहत समूहों के लिए अंतिम लक्ष्य बना दिया है। जिस तरह से बुनियादी प्रावधानीकरण समतावादी विचारधारा के बजाय क्षेत्र, जातीयता, लैंगिकता, वर्ग व जाति की पदानुक्रम की राजनीति के असर में ज्यादा किए जाते थे, स्कूल प्रणाली बराबर अवसरों और यहां तक कि समता के नहीं बल्कि समावेशन की ओर उन्मुख थी। और तो और शिक्षा प्रणाली की हद में इन सीमित धारणाओं पर भी सामाजिक भेदभाव और दमन के व्यवहारों पर पर्दा डाल दिया गया। 'बराबरी' के लक्ष्य को और ज्यादा धुंधला कर दिया गया।

भारतीय राज्य के दोहरे चरित्र ने, दबदबा रखने वालों के हितों के संरक्षक के साथ-साथ लोक कल्याणकारी नीति के प्रमुख निर्णायक के तौर पर, इसे दोनों ही तरह से सर्वव्यापी बना दिया। हालांकि राज्य की शिक्षा नीति ने मुख्य तौर पर कुलीनतावादी और दबदबा रखने वालों के हितों से जुड़कर, नुमाइंदगी व संसाधनों के वितरण के मामले में, न्याय और निष्पक्षता की सभी धारणाओं का उल्लंघन किया। गहराई तक पैठ जमाए पदानुक्रम वाली प्रणाली ने गैर-बराबरी की गारंटी की तथा भारतीय योग्यतातंत्र की धारणा को, इस शब्दावली में मौजूद विरोधाभास से थोड़ा ज्यादा ही बना दिया। योग्यता नहीं आरोपण इसका बुनियादी सिद्धांत है जो बांटता है, पीछा करता है, रास्ता बनाता है और चुनता है। इस हकीकत को योग्यतातंत्र बनाम आरक्षण की अहम भारतीय बहस के संदर्भ में अनदेखा नहीं किया जा सकता।

आज इंसानों की जिंदगी को संचालित करने वाली पदानुक्रम वाली

मूल्य प्रणाली ने सरलता से नवउदारवाद के सिद्धांतों के साथ चुनिंदा व सतही तरीके से खुद का तालमेल बिठा लिया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि ऊपरी सिरे की समृद्धि के ज्यादा अन्यायपूर्ण पैटर्न तथा निचले सिरे पर तले में ज्यादा गरीबी की भरमार हो गई है। राज्य के शैक्षिक नवाचारों ने आर्थिक व सामाजिक रूप से मातहत समूहों को तंत्र में पैर टिकाने के काबिल तो बना दिया है लेकिन ऐसे शैक्षिक स्तरों को हासिल करने से उनका लगातार बहिष्करण किया जाता है, जिनके कुछ मायने हों। क्षेत्र को फैलाने से मिलने वाले अनुकूल रुझानों का असर, स्कूल की धारणा के लुंज-पुंज होने, गुणवत्ता की धारणा के कमजोर होने से, सीखने की उम्मीदों के घटते जाने से कम होता जाता है। इसलिए मातहत समूहों के लिए घटिया दर्जे के स्कूलों के होने की संभावनाएं तो बढ़ गई हैं, लेकिन सार्थक ढंग से सीखने के अनुभवों को हासिल करने की संभावनाएं बेशक घट गई हैं। अजीब बात यह है कि भरपाई मूलक सिद्धांत को बुनियादी अधूरे कामों को पूरा करने के लिए खींचा-ताना जा रहा है। सबसे खास बात तो यह है कि भरपाई मूलक प्रावधान में वंचित समूहों के लिए खास ध्यान देने के अर्थ में सकारात्मक बदलाव की झलक मिलती है, तो उसी में वंचित समूहों के लिए वाजिब, स्कूलीकरण के संसाधनों, प्रकारों और धन-राशियों की मात्राओं के बारे में सोचने-समझने में नकारात्मक बदलावों की छाप भी होती है। जाहिर है कि मौजूदा हालात गुणवत्ता की न्यूनतम धारणा के भी खिलाफ हैं।

ढांचागत तौर पर दोषपूर्ण हालातों के बावजूद गुणवत्ता को बेहतर बनाने के उपायों को लागू किया जा सकता है, यह मान्यता परले सिरे से ही खोटी है। इसमें सिर्फ तार्किक विरोधाभास ही नहीं है बल्कि नैतिक विरोधाभास भी है, कि शैक्षिक बहस में तो गुणवत्ता की बेहतरीन धारणाएं गढ़ी जाएं और हकीकत में घटिया स्कूल मुहैया करवाए जाएं। मौजूदा प्रणाली की प्रकृति की वजह से गुणवत्ता में समझौता किया जाता है और बुनियादी तौर पर यह गैर-बराबरी वाले समाज में एक वर्गीय मुद्दा है।

वर्गीय गैर-बराबरी को घटाने की जवाबदेही उठा पाना नवउदारवादी राज्य के शासनादेश से बाहर है। पचास साल पहले अपने तंत्र को बराबरी की दिशा में दोबारा पुनर्गठित करने में नाकाम रहा भारतीय राज्य वर्गीय ढांचों को बरकरार रखने और उनका सशक्तिकरण करने के वास्ते शिक्षा प्रणाली का दोबारा पुनर्गठित करने के लिए पूरी तरह से तैयार है। सार्वजनिक स्कूलीकरण के लिए हमेशा से ही लापरवाह, इस पर अब मौजूद प्रणाली के अंतर्गत किसी भी किस्म का दबाव नहीं है। उसी वक्त में, राज्य की अगुवाई में जोरदार तड़क-भड़क वाले अभियानों के जरिए शिक्षा सबके लिए की विचारधारा का राष्ट्रवादी संयोजन और राज्य का पुराने मूल्यों के

साथ एक कमजोर-सा, लोकप्रियतावादी रिश्ता बनाने की अनुमति देने वाला कानून और 'सरोकारी राज्य' की मिथकीय धारणा की नाव को डूबने से बचाए रखता है। इसका राजनैतिक एजेन्डा बहुत साफ है : गरीबों और उत्पीड़ितों की वैधानिक मांगों, अधिकारों व सरकार समर्थित अनुदानों के लिए सरोकारों को जाहिर करते रहना, जबकि बाजार के सिद्धांतों पर आधारित तंत्र का चक्का इस तरह घुमाते रहना कि उसमें किसी भी किस्म की मुक्त सेवा का प्रावधान करना अभिशाप लगता रहे।

निजीकरण, चुनाव और गुणवत्ता

इसलिए राज्य नए शैक्षिक बाजार को बढ़ावा देता है और 'चुनाव' की नवाचारी गठरियों का बैंड-बाजा बजाता रहता है। गरीबों की खर्ची की पर्ची (वाउचर) की योजना या कुलीन/मध्यम वर्ग के स्कूलों में कोटा या हिस्से के जरिए निजी शिक्षा के 'चुनाव' की सुविधा दी गई है। हम इन उपायों की व्यवहारिकता की जांच कैसे करें ? निजी व असरकारी तथा कम लागत वाली शिक्षा ऊपरी तौर पर सरकारी स्कूलों से बेहतर नतीजे देने पर ध्यान केन्द्रित करती है, जिसका मकसद व्यापक ग्राहक या उपभोक्ता वर्ग को अपनी ओर खींचना होता है। इन स्कूलों द्वारा अपनाए गए शैक्षिक व्यवहारों की संभवतः शिक्षा के गंभीर सिद्धांतों के साथ तुलना नहीं की जा सकती है। हालांकि थोड़ा-बहुत जितना भी वे कर पाते हैं वह उन अभिभावकों के नजरिए से काफी होता है जिनकी आकांक्षाएं राज्य की तरफ से चूर-चूर हो चुकी हैं। हकीकत तो यह है कि गरीब को घटिया शिक्षा के लिए भुगतान करना पड़ता है, चाहे वह राज्य की हो या निजी हो। न तो राज्य और न ही समाज हकीकत में उनकी शिक्षा की गुणवत्ता की परवाह करता नजर आता है। गरीबों के लिए अच्छे स्कूलों की जबरदस्त कमी और विशेषाधिकार प्राप्त स्कूलों में उनके समावेशीकरण के प्रति साफ-साफ विरोध के चलते, नई नीतियों में चुनाव की धारणा न सिर्फ बेतुकी है, बल्कि उनकी शिक्षा का मखौल भी उड़ाती है।

नई निजीकरण की नीति पर बहस करते वक्त, यह दिखाई देता है कि अगर इस बात को सभी वर्गों के लिए सामान्य नियम के तौर पर मान लिया जाए तो कम से कम एकदम निचले तले वालों के लिए इससे इंकार की बुनियाद बहुत ही कम बचती है। आम समझ से उलट, नए निजीकरण ने शैक्षिक गैर-बराबरी या कम वित्तीय प्रावधानों की समस्या को पैदा नहीं किया है। इसने सिर्फ पहले से मौजूदा पदानुक्रम पर एक परत और चढ़ा दी है। सरकारी और निजी स्कूलीकरण के बीच में और उनके खुद के अंदर भी मौजूद, गुणवत्ता व मात्रा में साफ तौर पर गैर-बराबरी की पहले से मौजूद असलियत को देखते हुए इस बात पर बहस करना फिजूल-सा लगता है कि क्या निजी स्कूलों की गुणवत्ता सरकारी स्कूलों से बेहतर है।

वैश्विक पूंजीवाद के तर्क और उसकी सामाजिक व आर्थिक नीतियों पर बहस करना इससे ज्यादा महत्वपूर्ण है। और उसके सामाजिक नतीजों पर ध्यान देना चाहिए। शिक्षा में कई कड़ी शिकस्तों के बावजूद, विकासवादी, अर्थशास्त्री और यहां तक कि शिक्षाविद भी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दायरे की समस्याओं से जूझने के लिए सदा एक-से नुस्खे के तौर पर शिक्षा को ही सुझाते हैं। वे इस हकीकत को नजरअंदाज कर देते हैं कि शिक्षा और आर्थिक नीतियां, दोनों ही उन्हीं राजनैतिक-आर्थिक ताकतों द्वारा तय और लागू की जाती हैं। मातहत समूहों के लिए शिक्षा मुहैया करवाने और सार्वजनिक स्कूलों को बचाने के सरोकारों को शोषणकारी एवं दमनकारी हालातों को पैदा करने वाले ढांचों के साथ प्रतिबद्धता को तोड़कर अलग नहीं किया जा सकता।

यह सही है जैसा कि अक्सर कहा जाता है कि प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनिकरण व बराबरी के लक्ष्यों को हासिल करने के लिए जितने बड़े पैमाने पर कोशिश करने की जरूरत है, उसे करने का मादा सिर्फ सरकार में ही है। हालांकि भारतीय राज्य से यह उम्मीद बिल्कुल ही नौसिखियापने की होगी कि वह अपने नवउदारवादी अवतार में इस प्रतिबद्धता को पूरा करे। हम सब इसके जन-विरोधी, हिंसक और दमनकारी कामों में बढ़ोतरी के गवाह हैं जो जन संघर्षों को बड़ी बेरहमी से कुचले जाने में कतई भी शर्मिन्दगी महसूस नहीं करता। सिर्फ लोक कल्याणकारी राज्य की बहाली और लोकतांत्रिक समतावाद के लिए प्रतिबद्ध समाज ही इन ढांचों को इस तरह बदल सकता है कि ये समाज व शिक्षा में बराबरी व न्याय के ऊंचे दर्जों को हासिल कर पाएं।

गुणवत्ता की राजनीति

मौजूदा शैक्षिक बहस एक बड़ी बहस का हिस्सा है, जो राज्य की आधिकारिक विचारधारा के तौर पर उदारवाद में काट-छांट व नक्काशी करके उसे नवउदारवाद में बदलने के काम में लगी हुई है। शैक्षिक गुणवत्ता पर जोर कुछ अहम राजनैतिक मकसदों को पूरा करता है। सबसे पहला तो इसे जिस तरह से वैश्विक बहस में पेश किया जाता है, उसमें गुणवत्ता का मुद्दा बराबरी की धारणा को गुणवत्ता में अंतर्निहित मान लेता है और वित्तीय प्रावधानों की मात्रात्मक समतुल्यता और ऊपर जिक्र किए गए दोबारा शैक्षिक पुनर्गठन के कारण गहराई तक होने वाले गैर-बराबरी वाले असरों के केन्द्रीय मुद्दों से ध्यान हटा देता है। प्रतीकात्मक तौर पर या नाम मात्र के लिए की जाने वाली कोशिशें, जैसी कि भारत में मोटे तौर पर होती रहती हैं, कुलीनतावाद और न्यूनतावाद दोनों को ही वैध जामा पहना देती है। ताकतवर अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के पीछे छुपकर, भारतीय राज्य ने गुणवत्ता की बहस के साथ हाथ मिलाते हुए, गुणवत्ता को पूजा करने की चीज बना दिया है, भले ही शिक्षा

से जुड़े बुनियादी प्रावधान रसातल में जा रहे हों। दूसरा, गुणवत्ता सुधारने के कार्यक्रमों के राष्ट्रीय अभियान, आर्थिक व शैक्षिक सुधारों के बुरे अवसरों से घायल हुआओं के दर्द को कम करने के लिए चलाए जा रहे नजर आते हैं। 'सभी के लिए शिक्षा' का नारा सभी वर्गों को अपनी ओर खींचता है और इसका इस्तेमाल यह दिखाने के लिए किया जाता है कि उनके लिए कुछ न कुछ किया जाना बेहद जरूरी है, जिन्हें विकास का फायदा नहीं मिल पाता है। तीसरा, शैक्षिक उपलब्धि के स्तरों की जांच-परख के लिए सिर्फ मीठे बोलों की तरह गुणवत्ता की बात श्रम आवंटन के पैटर्नों को वैधानिक बनाने के मकसद का पूरा करता है, जिसमें मातहत समूहों को कम भुगतान वाले, 'कम ओहदे वाले', अर्थव्यवस्था के शोषणकारी क्षेत्रों में, उनकी 'सही' जगह मुहैया करवाई जाती है। शैक्षिक नीतियां गैर-बराबर श्रम बाजार को जारी रखने में और आर्थिक गैर-बराबरी को फैलाने का वैधानिकीकरण करने में अपनी भूमिका अदा करती है। आखिरकार, गुणवत्ता की इकहरी व व्यवहारिक समझ, जो उपकरणवादी सीखने के लक्ष्यों पर बहुत ही सीमित तरीके से अपना ध्यान केन्द्रित करती हो, वह व्यापक समतावादी व सामाजिक बदलावकारी राजनैतिक दर्शन के साझे समाज व शिक्षा की प्रकृति के साथ वैश्विक विचाराधारात्मक सहमति को घुलाने-मिलाने का काम अच्छी तरह से करेगी। नया उपकरणवाद पाठ्यचर्या पर कड़ा नियंत्रण लागू करना चाहता है ताकि वह उसे वैश्विक स्तर पर पूरे दबदबे के साथ 'साझा' कर सके।

आखिर में, नतीजे के तौर पर इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि हमें वैश्विक बहसों में आलोचनापरक तरीके से जरूर जुड़ना चाहिए लेकिन उन्हें हमारे स्वायत्त अकादमिक व राजनैतिक एजेन्डों को बेदखल करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। खास तौर पर बड़ी वित्त पोषित शोधों की ओर से शोध व नीति के मुद्दों और उनकी प्राथमिकताओं को पहले से तय कर दिए जाने से पैदा होने वाले खतरे बहुत तगड़े हैं। अकादमिकों व संजीदगी के साथ गहन विश्लेषण में जुड़े हुए सभी के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है कि ऐसे शैक्षिक शोध के ज्ञानमीमांसीय, सैद्धांतिक और मूल्यपरक ढांचों को स्वायत्त तरीके से परिभाषित करने के काम में शामिल हुआ जाए, जो हमारी शैक्षिक हकीकतों और कामों के संदर्भ में सार्थक हो। मौजूदा वक्त में भारतीय शिक्षा जिन असली मुद्दों और समस्याओं से जूझ रही है, उनको निगाहों से ओझल करना हम बर्दाश्त नहीं कर सकते। ♦

अनुवाद : रवि कांत

संपर्क

टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान, वी. एन. पूर्व मार्ग,
देवनार, मुम्बई-400088
E-mail : velaskar@tiss.edu